हमारे नाटककार



राजेन्द्रसिंह गौड़

हमारे नाटककार

[हिन्दी के दस प्रमुख नाटककारों का आलोचनात्मक अध्ययन]

तथा

हिन्दी-नाट्य-साहित्य

लेखक

राजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

प्रकाशक

श्रीराम मेहरा एण्ड को०

माईथान रोड, आगरा

प्रकाशक :
श्रीराम मेहरा एण्ड को०
माईथान रोड, आगरा

प्रथम संस्करण, मूल्य ३)
सं० २०१०

मुद्रक :
श्री प्रेमचन्द मेहरा,
न्यू ईरा प्रेस, इलाहाबाद

अपने

नन्हीं और नन्हें

को

जिन्हें मैं भूल नहीं सकता

निवेदन

'हमारी नाट्य-साधना' के पश्चात् 'हमारे नाटककार' को अपने पाठकों के हाथों में देते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। पहले इस विषय को स्वतंत्र-रूप में प्रस्तुत करने का विचार नहीं था, पर जब 'हमारी नाट्य-साधना' का आकार अनुमानित सीमा से अधिक बढ़ गया तब इसे स्वतंत्र रूप में ही प्रस्तुत करने के लिए मैं विवश हो गया। 'हमारी नाट्य-साधना' का विषय था मुख्यतः हिन्दी-नाट्य-कला का दिग्दर्शन कराना और प्रस्तुत पुस्तक का विषय है हिन्दी-नाटककारों के कृतित्व की आलोचना। इस प्रकार दोनों की अपनी-अपनी दिशाएँ हैं, अपना-अपना लक्ष्य है।

मैंने अपनी इस पुस्तक में केवल दस नाटककारों को ही स्थान दिया है। इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी के अन्य नाटककार नगण्य हैं। हिन्दी के सभी नाटककार मेरे लिए परम पूज्य हैं। इस पुस्तक में मेरा उद्देश्य समष्टि रूप से हिन्दी-नाटककारों पर विचार करना नहीं है। मैं विशेषतः विद्यार्थियों के लिए ही लिखता हूँ और अपने विषय प्रतिपादन में उन्हीं की कठिनाई, उन्हीं की रुचि, उन्हीं की सूझ-बूझ और उन्हीं की सीमाओं का ध्यान रखता हूँ। ऐसी दशा में मैं केवल उन्हीं कलाकारों को अपना आलोच्य विषय बनाता हूँ जिनकी रचनाएँ हिन्दी-परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों में स्थान पाती रहती हैं। इस प्रकार मैं अपने लक्ष्य से बँधा रहता हूँ। मेरी अन्य रचनाओं की भाँति इस पुस्तक में भी मेरा यही लक्ष्य है।

मैं नाट्य-कला-विशेषज्ञ नहीं हूँ। नाट्य-कला के गहन गह्वरों में मेरी अधिक पहुँच नहीं है। इसलिए मैं यह दावा नहीं कर सकता कि इस पुस्तक में जो कुछ है वह सब मौलिक है, सब नया है। बातें वही हैं जो इसमें दिये हुए नाटककारों के सम्बन्ध में हिन्दी आलोचनकों ने कही हैं।

उनमें और इनमें अन्तर केवल इतना ही है कि मैंने उन समस्त आलोचनाओं को विद्यार्थियों की सुविधा के अनुसार अभिनव रूप में प्रस्तुत कर दिया है। इस पुस्तक में मैंने प्रत्येक नाटककार के विभिन्न पक्षों पर, कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से, विचार किया है। मैंने उनकी कला, उनकी साधना, उनकी भाषा तथा उनकी शैली—सबको आलोच्य विषय बनाया है और जहाँ संभव हो सका है वहाँ उन को तुलनात्मक दृष्टि से भी नापने-तौलने की चेष्टा की है। अपनी इस चेष्टा को सफल बनाने के लिए मैंने डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द, श्री नलिन, तथा अन्य कला-पारखियों की रचनाओं से पूरी सहायता ली है। अतः मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस पुस्तक की एक विशेषता और है। इसके अन्त में, परिशिष्ट के रूप में मैंने हिन्दीं का संपूर्ण नाट्य-साहित्य भी प्रस्तुत कर दिया है। इस कार्य में मुझे डा० माताप्रसाद गुप्त-द्वारा संपादित 'हिन्दी-पुस्तक-साहित्य, श्री ब्रजरत्नदास-कृत 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य' तथा हिन्दी के सभी प्रकाशकों की सूचियों से सहायता लेनी पड़ी है। अतः उनके प्रति भी मैं आभारी हूँ। कार्डों को सुव्यवस्थित रूप देने तथा तिथियों को शुद्ध करने में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पुस्तकाध्यक्ष श्री कृष्णाचार्य तथा सहायक पुस्तकाध्यक्ष श्री द्वारकाप्रसाद शास्त्री ने भी मेरी बड़ी सहायता की है। इसलिए मैं उनका भी आभार स्वीकार करता हूँ। इस कार्य में यद्यपि मैंनें अपनी ओर से पूरी सावधानी बरती है तथापि मुझे संदेह है कि इसमें अशुद्धियाँ अवश्य होंगी। इसलिए अपने विद्वान पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इन अशुद्धियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने की कृपा करें। इससे मुझे अपनी त्रुटि समझने का अवसर तो मिलेगा ही, साथ ही, उन विद्यार्थियों को भी विशेष लाभ होगा जो विश्वविद्यालयों में इस दिशा में अनुसंधान-कार्य करते रहते हैं।

२५७, मीरापुर : इलाहाबाद—३
शिवरात्रि, सं० २०१०

राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-सूची

हिन्दी के प्रतिनिधि नाटककार



: १ :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म सं० १६०७

मृत्यु सं० १६४१

भारतेन्दु का महत्त्व

भारतीय इतिहास में सं० १६१४ की जन-क्रांति का विशेष महत्त्व है। इस जन-क्रांति की सफलता हमें किस ओर ले जाती और विश्व के आधुनिक इतिहास में हमारा क्या स्थान होता?—यह तो बताना हमारे लिए अत्यंत कठिन है, पर इतना हम कह सकते हैं कि इसकी विफलता हमारे लिए वरदान सिद्ध हुई। इसने हमें एकता के एक ध्येय-सूत्र में बाँधकर हमें अपनी दुर्बलताओं और आवश्यकताओं पर गम्भीर दृष्टि से विचार करने का अवसर प्रदान किया जिसके फलस्वरूप हमारे जीवन में नव चेतना का आविर्भाव हुआ। हमारा ध्यान देश, समाज और साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ और थोड़े ही दिनों में कई ऐसी संस्थाओं ने जन्म लिया जिनसे तत्कालीन जनता को विशेष स्फूर्ति और प्रेरणा मिली। राजा राममोहन राय का ब्रह्मो-समाज, स्वामी दयानंद का आर्य-समाज और रानडे का प्रार्थना-समाज आदि संस्थाओं ने निराशा

और अंधकार के गर्त में पड़ी हुई जनता के जीवन को आलोक से भर दिया। सौभाग्य की बात थी कि इसी मानसिक हलचल के बीच भारतेन्दु ने जन्म लेकर हिंदी-साहित्य का पल्ला पकड़ा और अपने जीवन के १६-१७ वर्षों में उन्होंने अपने सबल व्यक्तित्व से उसके प्रत्येक अंग को चमका दिया। उन्होंने अपने साहित्य में उक्त तीनों संस्थाओं की आत्माओं का समन्वय किया और उसे कविता, उपन्यास, निबन्ध और नाटक के रूप में जनता तक पहुँचाया।

भारतेन्दु अपने युग के स्वयं स्रष्टा थे। उन्होंने हिन्दी-भाषा का संस्कार किया, उसे एक निश्चित शैली दी और उस शैली-द्वारा साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति की। उनके पास धन था, शक्ति थी, प्रतिभा थी। हिन्दी-साहित्य की उन्नति में उन्होंने अपनी इन तीनों संपत्तियों का भरपूर उपयोग किया। धन से नये साहित्यकारों और शक्ति एवं प्रतिभा से अपनी रचनाओं को उन्होंने जो योग-दान दिया उसने उन्हें हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ही नहीं, सम्पूर्ण भारत के इतिहास में अमर कर दिया। वह अपने युग के सफल नेता थे। उनके समय में शिक्षित और अशिक्षित जनता की जैसी मनोवृत्ति थी उससे वह भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने उसकी धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन किया था। वह जान गये थे कि धार्मिक जीवन में पाखण्ड का, सामाजिक जीवन में कुरीतियों का और राजनीतिक जावन में पराधीनता की भावनाओं का तीव्र गति से जो प्रसार हो रहा है उसे रोकना परम आवश्यक है। वाणी और बल का वह युग नहीं था। इसलिए उन्होंने लेखनी का सहारा लिया। युद्ध-क्षेत्र में तलवार की भीषण मारकाट जिस प्रकार शत्रु का हृदय प्रकंपित कर देती है उसी प्रकार उनकी लेखनी की अबाध गति और उसकी काट-छाँट ने एक ऐसी मानसिक क्रान्ति को जन्म दिया जिसने धार्मिक जीवन में पाखंड के स्थान पर भक्ति की, सामाजिक जीवन में कुरीतियों के प्रसार के स्थान पर उनके सुधार की और राजनीजिक जीवन में पराधीनता के स्थान पर स्वाधीनता की प्रतिष्ठा

की। इस प्रकार साहित्य का ही नहीं, जनता का भी स्तर ऊँचा उठा। साहित्य के साथ समाज और समाज के साथ साहित्य का जोड़-मेल स्थापित करने में ही भारतेन्दु का महत्त्व है और इसीलिए हम उनके युग को उनके नाम से चरितार्थ करते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से भारतेन्दु के पूर्व का समय अत्यन्त निराशाजनक था। रीति-कालीन परंपरा के कवि देव की मृत्यु के पश्चात् हिन्दी में जो रचनाएँ हुईं उनमें न तो जीवन की झलक थी और न कला का सौंदर्य। ऐसी स्थिति में भारतेन्दु ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से उसके प्रत्येक अंग को सशक्त और समृद्धशाली बनाने की भरपूर चेष्टा की। उन्होंने साहित्य और जीवन के बीच समन्वय स्थापित किया और उस समन्वय के आधार पर साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति की। उन्होंने कविता, नाटक आख्यान, निबन्ध, इतिहास, समाचार-पत्र आदि की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया और जीवन के क्षेत्र से उनके लिए सामग्री एकत्र की। इस प्रकार उनके साहित्यिक जीवन के विविध रूप हमारे सामने आये। महत्त्व की दृष्टि से उनका प्रत्येक रूप अपने में महान् है, उसकी अपनी विशेषता है। यहाँ हम उनके समस्त रूपों का मूल्यांकन न करके उनके केवल उस रूप पर विचार करेंगे जिसका सम्बन्ध उनके नाटकों से है। वास्तव में उनका यही रूप उनकी प्रतिभा, उनकी कला और उनकी साहित्यिक क्षमता का प्रतिनिधित्व करता है और इसीलिए वह आधुनिक हिन्दी-साहित्य के जनक माने जाते हैं।

भारतेन्दु के पूर्व का नाट्य-साहित्य

प्रश्न उठता है कि क्या भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी-नाटकों का सर्वथा अभाव था? यदि केवल एक शब्द में हम इस प्रश्न का उत्तर देना चाहें तो हम कहेंगे—'हाँ'। हमारी इस 'हाँ' का तात्पर्य यही है कि भारतेन्दु के पूर्व नाटक थे ही नहीं। सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् जब संस्कृत-नाटकों का पतन हो गया और देव-मन्दिरों तथा राजसभाओं से रंगशालाएँ उखड़-पुखड़ गयीं तब उस समय से

चौदहवीं शताब्दी तक भारत की किसी भी भाषा में नाटक की रचना नहीं हुई। चौदहवीं शताब्दी के आस-पास जब हिन्दी भाषा को कुछ स्थिर रूप मिला तब तत्कालीन साहित्यकारों का ध्यान नाटक-रचना की ओर गया और वह अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक किसी-न-किसी रूप में बना रहा। आधुनिक खोजों से पता चला है कि इस लम्बी अवधि में संस्कृत और हिन्दी में नाटक लिखे गये। सं० १६८४ में हृदय राम उपनाम 'राम' ने संस्कृत-हनुमन्नाटक का हिन्दी-अनुवाद 'हनुमान नाटक' प्रस्तुत किया। सं० १६६३ में जैन-कवि बनारसीदास ने कुंद कुन्दाचार्य-कृत 'समयसार नाटक' का भाषान्तर किया। सं० १७०० के आस-पास जोधपुर-नरेश महाराज यशवन्तसिंह ने कृष्ण मिश्र-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' का हिन्दी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद-परम्परा में लगभग दो शताब्दियों के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास-कृत 'रघुवंश', 'मेघदूत' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को हिन्दी में प्रस्तुत किया। हिन्दी के कई मौलिक नाटक भी लिखे गये। सं० १६६७ में प्राणचन्द चौहान ने 'रामायण महानाटक' की रचना की। व्यासजी के शिष्य देव ने 'देवमाया प्रपंच' लिखा। सं० १७३७ में नेवाज कवि ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के आख्यानक को ब्रजभाषा-पद्य में लिखा। सं० १७५७ में रघुराम नागर ने 'सभा सार' की रचना की। सं० १७७२ में कृष्णजीवन लछीराम ने 'करुणाभरण' नाटक कृष्ण-लीला के आधार पर लिखा। रामलीला-परंपरा में हरिरामजी ने 'जानकी रामचरित-नाटक', लक्ष्मणशरण उपनाम 'मधुकर' ने 'रामलीला-बिहार', तथा महाराज विश्वनाथसिंह ने 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' और पौराणिक धारा में गोपालचन्द्र उपनाम 'गिरिधरदास' ने सं० १८६८ में 'नहुष नाटक' की रचना की। इन नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें नाटकीय तत्वों का सर्वथा अभाव है। उनकी रचना काव्य की शैली पर हुई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पिता के 'नहुष' नाटक को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना है। इसमें भी कविता को

ही प्रधानता दी गयी है और ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली की खिचड़ी पकायी गयी है। एक नाटक अवश्य है और वह है राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञान शाकुन्तल'। मौलिक न होने के कारण हिन्दी नाट्य-साहित्य में इसका विशेष मूल्य नहीं है। ऐसी स्थिति में भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य ही हिन्दी की मौलिक संपत्ति है और उसी से उसका विकास माना जाता है।

भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य

भारतेन्दु में अद्भुत लेखन-शक्ति थी। वह घण्टों धारा-प्रवाह लिख सकते थे। डा० राजेन्द्रलाल के शब्दों में वह 'राइटिंग मशीन' थे। उनकी लेखनी चलते-चलते थक जाती थी, पर वह नहीं थकते थे। आज जब लगभग एक शताब्दी के पश्चात् हम उनके ग्रन्थों की छानबीन करते हैं तब हमें उनकी लगन और उनके अथक परिश्रम पर आश्चर्य होता है। पैंतीस वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई और सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था से उन्होंने लिखना आरंभ किया। इस प्रकार उनके जीवन के सत्रह-अठारह वर्ष केवल साहित्य-सेवा में ही व्यतीत हुए। इतने अल्प समय में उन्होंने हिन्दी को जोकुछ दिया उसका मूल्य आज जितना है, उतना ही युग-युग तक बना रहेगा। उनकी समस्त रचनाओं में उनके नाटकों का ही विशेष स्थान है। बाबू राधाकृष्णदास ने उनके बीस नाटकों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार हैं :—

१. प्रवास :····१९२५ (अ० अप्र०) २. विद्यासुन्दर :·········१९२५
३. रत्नावली :·······१९२५ (अ०) ४. पाखडविडंबन :·······१९२६
५. वै०हिं०हिं० न भवति :···१९३० ६. धनंजयविजय :········१९३०
७. कर्पूरमंजरी :············१९३२ ८. सत्य हरिश्चन्द्र :·······१९३२
९. प्रेमजोगिनी :····१९३२ (अ०) १०. विषस्य विषमौषधम् :···१९३३
११. श्रीचन्द्रावली :·········१९३३ १२ भारत-जननी :··········१९३४
१३. मुद्रा-राक्षस :······१९३१-३५ १४. भारत-दुर्दशा :·········१९३७
१५. दुर्लभ बन्धु :····१९३७ (अ०) १६. नीलदेवी :············१९३८

१७. अंधेर नगरी :·······१९३८ १८. सती प्रताप :···१९४० (अ०)
१९. नवमल्लिक :···(अ० अप्र०) २०. मृच्छकटिक :··· (अ०अप्र०)

उपर्युक्त सूची में अ०, अपूर्ण का और अप्र०, अप्रकाशित का द्योतक है। 'मृच्छकटिक' अप्राप्य है, शेष सभी प्राप्य हैं। इन समस्त नाटकों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) मौलिक—प्रवास, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, सत्य हरिश्चन्द्र, प्रेमजोगिनी, विषस्य विष्मौषधम्, श्रीचन्द्रावली, भारत-जननी, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेरनगरी, सती-प्रताप और नवमल्लिका।

(२) अनूदित—रत्नीवली, पाखंडविडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूर मञ्जरी, मुद्रा-राक्षस, दुर्लभ बन्धु और मृच्छकटिक। इन नाटकों में से रत्नावली, धनंजय-विजय, पाखंड-विडंबन, मुद्रा-राक्षस और मृच्छकटिक संस्कृत से, कर्पूरमञ्जरी प्राकृत से और दुर्लभ बन्धु अँगरेजी से अनूदित हैं।

(३) रूपान्तरित—विद्यासुन्दर बङ्गला से रूपान्तरित है।

शैली की दृष्टि से समस्त नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

(१) नाटक—प्रवास, विद्यासुन्दर, सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्रा-राक्षस, दुर्लभ बन्धु, नवमल्लिका और मृच्छकटिक।

(२) नाटिका—रत्नावली, श्रीचन्द्रावली और प्रेमजोगिनी।

(३) प्रहसन—अंधेरनगरी और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।

(४) गीति रूपक—नीलदेवी और सती-प्रताप।

(५) रूपक—पाखंड-विडंबन।

(६) लास्यरूपक—भारत-दुर्दशा।

(७) भाण—विषस्य विषमौषधम्।

(८) नाट्य गीत—भारत-जननी।

(९) व्यायोग—धनंजय-विजय।

(१०) सट्टक—कर्पूरमञ्जरी।

कथानक की दृष्टि से समस्त नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है: —

(१) पौराणिक—प्रवास, सत्य हरिश्चन्द्र, श्रीचन्द्रावली, सती प्रताप, धनजय-विजय, कर्पूरमञ्जरी और नवमल्लिका।

(२) आख्यानक—विद्यासुन्दर, रत्नावली और दुर्लभ बन्धु।

(३) सामाजिक—अंधेरनगरी, प्रेमजोगिनी और वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।

(४) ऐतिहासिक—मुद्रा-राक्षस और नीलदेवी।

(५) धार्मिक—पाखंड-विडंबन।

(६) राष्ट्रीय—भारत-जननी और भारत-दुर्दशा।

(७) राजनीतिक—विषस्य विषमौषधम् और मृच्छकटिक।

भारतेन्दु के उपर्युक्त नाटकों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करने के पूर्व उनके नाट्य-सिद्धान्तों को समझ लेना आवश्यक है। हम

भारतेन्दु की ना ट्य-कला

बता चुके हैं कि जिस समय उन्होंने नाटक लिखना आरम्भ किया उस समय हिंदी की अपनी कोई नाट्य-कला नहीं थी। ऐसी स्थिति में नाट्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना उनके लिए परम आवश्यक था। उन्होंने संस्कृत नाट्य-शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया; संस्कृत, बंगला तथा अँगरेजी के नाटक पढ़े और अँगरेजी, पारसी तथा बँगला-रङ्ग-मंच से कुछ नाटकों के अभिनय देखे। इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत की प्राचीन नाट्य-कला का अक्षरशः समर्थन हिन्दी-नाट्य-शास्त्र के लिए आधुनिक वातावरण में उपयुक्त नहीं होगा। इसलिए उन्होंने अपने अध्ययन और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अपने नाटकों की रूप-रेखा बनायी और उसके अनुसार अपने युग के अन्य साहित्यकारों को नाटक-रचना की ओर आकृष्ट करने के लिए सं० १९४० में, 'नाटक' नामक एक पुस्तिका की रचना की। यह हिन्दी-नाट्य-कला का प्रथम शास्त्रीय ग्रंथ है। इसमें उन्होंने संस्कृत-नाट्य-कला के उन्हीं पक्षों का समर्थन

किया है जिन्हें वह देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त और संगत समझते थे। उनका कहना था—'जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशी रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की प्रवृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति—इन दोनों विषयों की समालोचना करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना योग्य है।'

स्पष्ट है कि भारतेन्दु अपने समय की रुचि को भली भाँति जानते थे। पाश्चात्य साहित्य के प्रति तत्कालीन शिक्षित वर्ग का जो सहज आकर्षण था उसकी वह उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसके साथ ही प्राचीनता के प्रति उनमें जो मोह था उसकी भी अवहेलना करना वह उचित नहीं समझते थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने पौर्वात्य और पाश्चात्य नाट्य-कलाओं के मेल से अपने नाट्य-कला की रूप-रेखा निश्चित की। अनूदित नाटकों में वह बन्धे हुए थे, पर अपने मौलिक नाटकों में उन्होंने अपनी स्वतंत्र बुद्धि से काम लिया। उन्होंने अपने नाटकों के कथानक में 'अस्वाभाविक सामग्री-पोषक काव्य' के स्थान पर जीवन की स्वाभाविक और वास्तविक घटनाओं की प्रतिष्ठा की। उन्होंने अपने समय के अनुसार नाटकत्वहीन दृश्य काव्य—भाँड़, इंद्र-सभा, रास, यात्रा, लीला, पारसियों के नाटक आदि को **भ्रष्ट**; कठ-पुतली के खेल, गूँगे-बहरे के नाटक, बाजीगरी तथा घोड़े के तमाशों के संवाद, भूत-प्रेत की नकल आदि को **शुद्ध कौतिक** और नाट्य-कला-संपन्न को **काव्य मिश्र** में स्थान दिया। उन्होंने काव्य मिश्र के पुनः दो भाग किये जिनमें से संस्कृत-नाट्य-परंपरा के अन्तर्गत आनेवाले नाटकों को **प्राचीन** और अंक तथा दृश्यों में दिखलाये जानेवाले नाटकों को **नवीन** माना। गीतों के आधार पर उन्होंने नवीन नाटकों को फिर दो भागों में विभाजित किया। जिन नवीन नाटकों में गीतों की न्यूनता थी उन्हें **नाटक** और जिनमें घटना की अपेक्षा गीतों की अधिकता थी उन्हें गीति-रूपक माना। अन्त की दृष्टि से इन दोनों के पुनः तीन भेद

माने। प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो उसे **संयोगान्त,** जिस नाटक की कथा नायिका अथवा नायक के मरण या अन्य किसी आपद घटना पर समाप्त हो उसे **वियोगान्त** और जिसकी कथा में प्रथम दोनों का समन्वय हो उसे **मिश्र** माना। ऐसे तीनों नाटकों का उद्देश्य शृङ्गार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार अथवा देश-प्रेम माना गया। भारतेन्दु का मत था कि 'आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक-रचना में उद्देश्य-फल उत्तम निकालना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्य शिष्टगण ग्रंथ का तादृश आदर नहीं करते······।' कहने का तात्पर्य यह कि उन्होंने अपने युग की शिष्ट रुचि के अनुसार पाश्चात्य नाट्य-परम्परा का अनुसरण किया और ऐसे बहुत से अप्रयुक्त प्राचीन नियमों का परित्याग तथा अशास्त्रीय नियमों का समर्थन किया जो हिन्दी की स्वतंत्र नाट्य-कला के विकास के लिए अपेक्षित थे। उन्होने 'गर्भांक' को 'दृश्य' के अर्थ में स्वीकार किया जिसके फलस्वरूप उनके युग के अन्य नाटककारों ने अपनी-अपनी रचनाओं में दृश्य का ही विधान किया। इसी प्रकार नांदी-पाठ, प्रस्तावना, विष्कम्भक, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख आदि की भी योजना बहुत कम हो गयी। अशास्त्रीय माने जानेवाले दृश्य चुंबन, वध, आलिंगन, मृत्यु, युद्ध आदि भी रङ्गमञ्च से दिखाये जाने लगे। कथोपकथन की प्राचीन शैली में विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। उसमें गद्य-पद्य का मोह बना रहा। इसके दो ही कारण हो सकते थे—एक तो यह कि पारसी-कंपनियों के नाटकों के कथोपकथन के प्रति उस समय के लेखकों का विशेष आकर्षण था और दूसरा यह कि उसकी भाषा नाटकीय गद्य के लिए समृद्ध नहीं थी। नाटककारों के पात्रों में अंतर्द्वन्द्व का भी अभाव था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपनी समन्वय-बुद्धि से अपने तथा अपने युग के अन्य नाटककारों के लिए जो नाट्य-सिद्धांत स्थिर किये उनके अनुसार हिन्दी-नाटकों के वाह्य रूप में जितना परिवर्तन हुआ उतना उनकी आत्मा में नहीं हो सका। रस की योजना,

अंतर्द्वन्द्व का अभाव, आदर्श पात्रों का निर्माण, चरित्र-चित्रण में उत्थान-पतन का अभाव आदि ऐसी बातें हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि उस समय के नाटक नवीन होते भी प्राचीन ही थे।

भारतेन्दु केवल साहित्यकार ही नहीं, अपने युग के निर्माता भी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं-द्वारा अपने युग का निर्माण किया था।

भारतेन्दु की नाटकीय प्रवृत्तियाँ

संसार में देश, जाति और धर्म का क्या महत्त्व है ?—इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर सबसे पहले उन्होंने ही दिया। उन्होंने ही जीवन और साहित्य के बीच की गहरी खाई को अपनी विविध रचनाओं से पाटकर दोनों में समन्वय स्थापित किया और हमारी प्रवृत्तियों का संस्कार कर उनका सफल नेतृत्व किया। वह साहित्य के साधक थे। साहित्य की साधना उन्होंने तन-मन-धन से की थी। उनके साहित्य की आधारभूत प्रवृत्ति है प्रेम। प्रेम ही किसी-न-किसी रूप में उनकी समस्त रचनाओं में उपनिबद्ध है। उनके नाटकों में उनकी प्रेमानुभूतियों के विविध रूप हैं। उनका प्रकाशन कहीं दाम्पत्य-प्रेम के रूप में हुआ है, कहीं राधा-रानी के प्रेम में, कहीं जातीय प्रेम के रूप में, कहीं देश-प्रेम के रूप में और कहीं सत्य-प्रेम के रूप में। उनका प्रत्येक नाटक उनके प्रेम के एक विशिष्ट रूप का पोषण और समर्थन करता है। यहाँ हम उनकी प्रेमानुभूति के विविध रूपों पर विचार करेंगे।

[१] **दाम्पत्य-प्रेम का स्वरूप**—हमारे प्राचीन साहित्यकारों ने दाम्पत्य-प्रेम के चार रूप बताये हैं—**(१) विवाह के पश्चात् विकसित होनेवाला राम-सीता का प्रेम, (२) विवाह से पूर्व उत्पन्न होनेवाला दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम, (३) गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन, स्वप्न आदि से उत्पन्न होनेवाला राजा रत्नसेन-पद्मावती, पृथ्वीराज-संयोगिता आदि का प्रेम और (४) राजाओं के महलों के भीतरी प्रभाव आदि से उत्पन्न होनेवाला प्रेम।** भारतेन्दु के अनूदित नाटकों में से 'विद्यासुन्दर' और 'कर्पूरमंजरी' के कथानक तृतीय प्रकार के प्रेम पर आधारित हैं। 'धनंजय-विजय' का

कथानक भी दाम्पत्य प्रेम पर ही आश्रित है, पर उससे राष्ट्र-प्रेम की भी ध्वनि निकलती है। मौलिक रचनाओं में नीलदेवी का दाम्पत्य-प्रेम एक आदर्श राजपूत-रमणी का प्रेम है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में हमें दाम्पत्य-प्रेम के विविध रूप मिलते हैं। चन्द्रावली का पूर्वानुराग भी क्रमशः दाम्पत्य-प्रेम में ही परिणत होता है।

[२] **धार्मिक प्रेम का स्वरूप**—भारतेन्दु के नाटकों में धार्मिक प्रेम का स्वरूप वैष्णव धर्म-द्वारा प्रतिपादित पुष्टि मार्ग पर आधारित है। इस दृष्टि से उनके दो ही मुख्य नाटक हमारे सामने आते हैं। उनमें से एक है 'पाखंड विडंबन' और दूसरा है 'श्रीचन्द्रावली'। 'पाखंड विडंबन' उनकी अनूदित रचना है। यह उनकी वैष्णवी प्रवृत्ति का पोषक है। 'श्रीचन्द्रावली' उनकी मौलिक नाटिका है। इसमें दाम्पत्य-प्रेम की ओट में रीति-कालीन परंपरा के अनुसार कृष्ण-भक्ति का रूप प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के प्रेम-निरूपण में पात्र की उन्मत्तता का विशेष महत्त्व होता है। चन्द्रावली की उन्मत्तता कृष्ण-भक्तों की नारी-हृदय की उनमत्ता है। वह बार-बार कृष्ण को गले लगाती है, फिर भी उसे संतोष नहीं होता। प्रेम में भक्तों की यही दशा होती है और आत्मा और परमात्मा का सम्मेलन इतना ही मोहक और अनुभूति-पूर्ण होता है।

[३] **राष्ट्र प्रेम का स्वरूप**—भारतेन्दु की राष्ट्रीयता हिन्दू-भावना से प्रभावित है और वह प्रधानतः दो रूपों में चित्रित हुई हैं—एक तो **जातीय प्रेम** के रूप में और दूसरी **देश-प्रेम** के रूप में। उनके जातीय प्रेम की भी दो विभिन्न धाराएँ हैं जिनमें से एक उन्हें आर्यों के प्राचीन गौरव, समृद्धि और वैभव पर गर्व करने का अवसर देती है और दूसरी उन्हें तत्कालीन हिंदू-समाज की धार्मिक कुरीतियों, सामाजिक रीति-रवाजो और पतनोन्मुखी आचार-विचारों पर रुलाती है। इस प्रकार के जातीय प्रेम के साथ उनके राष्ट्रीय प्रेम का गठबंधन होने से उनके नाटकों का सम्पूर्ण वातावरण देश-प्रेम की प्रवृत्तियों से परिपूर्ण हो गया है।

यों तो उनके प्राय: प्रत्येक नाटक में जातीय और राष्ट्रीय प्रेम को वाणी मिली है, पर उनका वास्तविक प्रतिनिधित्व 'भारत-जननी' और 'भारत-दुर्दशा' में ही हुआ है। अपने जातीय सम्मान, संस्कृति और सभ्यता की रक्षा के प्रति उनके हृदय में जो आकुलता-व्याकुलता है उसे उन्होंने अपने इन्हीं दो नाटकों में स्वर प्रदान किया है। 'कर्पूरमंजरी' के भरत वाक्य में वह कहते हैं:—

> उन्नत चित्त ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
> कपट-नेह तजि सहज सत्य ब्यौहार चलावैं॥
> जवन संसरग जात दोसगन इन सौं छूटैं।
> सबै सुपथ-पथ चलैं, नितहि सुख-सपति लूटैं॥
> तजि विविध देव-रति कर्ममति, एक भक्ति-पथ सब गहै।
> हिय भोगवती-सम गुप्त हरि-प्रेम-धार नित ही बहै॥

अपने देश-प्रेम की भावना में भारतेन्दु हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैनी, बुद्ध, शैव, वैष्णव—सबको एक साथ लेकर चले हैं और उन्हें देश की तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर आकृष्ट किया है। 'भारत-दुर्दशा' का प्रथम गीत है :—

> आवहु सब मिल कै, रोवहु भारत भाई।
> हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

उक्त गीत की प्रथम पंक्तियों में जिस अमोघ तथा मर्मस्पर्शी करुणा का हाहाकार छिपा हुआ है उसमें केवल भारतेन्दु का हृदय ही नहीं, समस्त भारत का हृदय एक साथ मुखरित हो उठा है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में वह राष्ट्रीय भावना के अग्रदूत थे। गोस्वामी तुलसीदास के 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' के पश्चात् उन्होंने ही राष्ट्रीयता का प्रथम मंत्रोच्चार किया था। आज से लगभग एक शताब्दी पहले जब देश में इस प्रकार की बात कहनेवालों की संख्या नगण्य थी तब उन्होंने निर्भीक होकर सरस्वती की पुरानी वीणा

के तारों को झंकृत कर राष्ट्रीयता का ऐसा नया राग अलापा जिसके मधुर और करुण स्वर से सारा भारत द्रवित हो उठा। उनका ध्यान सबसे पहले भारत की आर्थिक दशा की ओर गया। इस ओर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। वह जाति के अग्रवाल वैश्य थे। उनके पूर्वज अच्छे व्यापारी भी थे। धन के महत्त्व को वही अधिक समझ सकते थे। इसके अतिरिक्त देश की आर्थिक स्थिति ही एक ऐसी स्थिति थी जिसकी ओर समान रूप से प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक धर्म के व्यक्तियों का ध्यान समान रूप से आकृष्ट हो सकता था। इसलिए वह धन की समस्या लेकर ही रंगमंच पर आये और वहीं से उन्होंने कहा :—

पै धन विदेश चलि जात, इहै अति ख्वारी।

भारतेन्दु के उपर्युक्त शब्दों में जो वेदना है, जो टीस और व्याकुलता है वही उनकी राष्ट्रीय भावना का आधार है। 'भारत-दुर्दशा' में वह कहते हैं :—

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में उनका स्वर है :—

छुटै राज-कर, मेघ समय पै जल बरसावैं।

'सत्य हरिश्चन्द्र' में वह कहते हैं :—

उपधर्म छूटै, सत्त्व निज भारत लहै, कर-दुःख बहै।

और फिर हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान देते हुए वह कहते हैं:—

कछु त ।वेतन में गयो, कछुक राज-कर माँहि।
बाकी सब व्यौहार में, गयो, रहयो कछु नाँहि॥

आज एक शताब्दी के पश्चात् जब हम उनके नाटकों के पन्ने उलटते-पलटते हैं और हमारी दृष्टि उनकी उक्त पंक्तिय पर पड़ जाती है तब हम उनकी भविष्यवाणी का मर्म समझकर छटपटा उठते हैं। हम स्वतंत्र होकर भी आर्थिक दृष्टि से इतने निष्प्राण हो गये हैं कि हमें स्वयं अपना जीवन दूभर हो रहा है।

[४] **प्रकृति-प्रेम का स्वरूप**—भरतेन्दु का प्रकृति के प्रति विशेष

अनुराग नहीं है। इसलिए प्राकृतिक वातावरण तथा दृश्यों का उनके नाटकों में अभाव है। उनका मन भारतीय जनता की तत्कालीन समस्याओं में इतना रमा हुआ था कि वह प्रकृति की ओर ध्यान ही नहीं दे सके। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में गंगा का और 'चन्द्रावली' में यमुना का वर्णन है अवश्य, पर उन दोनों से उनका प्रकृति-प्रेम सिद्ध नहीं होता। 'चन्द्रावली' में वर्षा-कालीन झूला-वर्णन परंपरानुगत ही है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में जिस गंगा का वर्णन है वह उच्च पर्वत-मालाओं तथा रम्य वनस्थली के बीच स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित होनेवाली गंगा का न होकर काशी के विशालकाय घाट-माला के नीचे प्रवाहित होनेवाली गंगा-धारा है जिसमें उन्हें मानवीय व्यापारों की ही झलक दीख पड़ती है। मानव से आगे वह नहीं बढ़े हैं—न अपने काव्य में और न अपने नाटकों में। उनके प्रकृति-प्रेम पर मानव-प्रवृत्तियों की स्पष्ट छाप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपने नाटकों में अपने हृदय की समस्त उदात्त प्रवृत्तियों को स्थान दिया है। उत्कृष्ट जातीय भावना तथा देश-हितैषिता की सच्ची लगन में अनेकानेक भावों और प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण रहता है। पूर्व गौरव की स्मृति, आत्मग्लानि, लांछना, व्यंग, हास्य, फटकार, कातरता, उद्योग आदि की विभिन्न प्रवृत्तियाँ समय-समय पर अपनी क्रीड़ा किया करती है। 'भारत-दुर्दशा' में इन समस्त प्रवृत्तियों को उचित स्थान मिला है। भारत की दुर्दशा से आक्रांत होकर 'नीलदेवी' में उन्होंने करुणानिधि केशव का आँचल पकड़ा है। 'कहाँ करुणा-निधि केसव सोये' में उनकी आकुल आत्मा का जो क्रन्दन है वह हमें द्रवीभूत कर देता है। 'चलहु वीर ! उठि करत सबै जय-ध्वजहिं उड़ाओ' में उनकी आत्मा का समस्त उत्साह फूट पड़ा है। राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए इस युग के अनुकूल नारी-चरित्र का चरम आदर्श उन्होंने 'नीलदेवी' के चरित्र में चित्रित किया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मांस तथा मदिरा-सेवन करनेवालों की खिल्ली उड़ायी गयी है और समाज-सुधारकों; धर्म-प्रचारकों, विधवा-विवाह के

पक्षपातियों और पाखंडी पंडितों पर व्यंग के परिहासपूर्ण छींटे कसे गये हैं। 'अंधेरनगरी' उनके हास्य और व्यंग का प्रतीक है। भारतेन्दु की इन समस्त प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन जैसा उनके नाटकों से मिलता है वैसा उनकी अन्य रचनाओं से मिलना दुर्लभ है।

भारतेन्दु की नाट्य-साधना

अब हमें यह देखना है कि भारतेन्दु अपनी नाट्य-साधना में कहाँ तक सफल हुए हैं। हम बता चुके हैं कि भारतेन्दु ने जब नाटक-रचना की ओर ध्यान दिया तब हिन्दी नाटकों का नितान्त अभाव था। जो नाटक थे भी, वे अनुकरणीय नहीं थे। फिर भी उनके सामने प्रधानतः दो शैलियाँ थीं। एक तो **साहित्यिक** और दूसरी **जन-रंगमंचीय**। **साहित्यिक शैली** के अंतर्गत (१) संस्कृत-नाट्य शैली; (२) पाश्चात्य नाट्य शैली; (३) पाश्चात्य नाट्य कला से प्रभावित बंगला-नाट्य शैली और (४) राम-लीला तथा कृष्ण-लीला पर आधारित हिन्दी की पद्यमय नाट्य शैली। **जन-रंगमंचीय शैली** के अंतर्गत (१) व्यवसायी पारसी कंपनियों की नाट्य शैली और (२) खुले मैदानों में होनेवाली राम-लीलाओं तथा कृष्ण-लीलाओं की संवादात्मक नाट्य शैली की गणना की जा सकती है। भारतेन्दु की नाट्य-साधना पर इन सभी शैलियों का प्रभाव पड़ा है। वह अपने नाटकों को न तो इतना कलात्मक बनाना चाहते थे कि वे केवल अध्ययन की वस्तु बन जायँ और न इतना कलाहीन कि साहित्यकारों के लिए उनका महत्त्व ही नष्ट हो जाय। नाटक-रचना में उनका उद्देश्य था, तत्कालीन साहित्यिक धारा तथा लोक-धारा के नाटकों के बीच समन्वय स्थापित करके हिन्दी-नाट्य-कला का विकास करना और अपने नाटकों के अभिनय-द्वारा जनता को उनकी गिरी हुई दशा का परिचय कराना। ऐसी दशा में उनके नाटकों को आधुनिक नाट्य-कला की कसौटी पर कसते समय हमें उक्त दोनों उद्देश्यों पर ध्यान देना आवश्यक है। यहाँ नाटक के मूल तत्त्वों के अनुसार उनके नाटकों की परीक्षा की जाती है

[१] **कथा-योजना**—हम बता चुके हैं कि भारतेन्दु के कुछ नाटक अनूदित हैं और कुछ मौलिक। अनूदित नाटकों में उनकी मौलिकता का परिचय केवल अनुवाद से मिलता है वस्तु-संगठन आदि से नहीं। मौलिक नाटकों में उनकी अपनी कथा-वस्तु है। इतिवृत्ति की दृष्टि से उनके नाटक मुख्यत: **पौराणिक, ऐतिहासिक** और **काल्पनिक** हैं। पौराणिक नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', ऐतिहासिक में 'नीलदेवी' और काल्पनिक में 'भारत दुर्दशा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावनाएँ ही कथा के रूप में चित्रित हुई हैं। ऐसे नाटक **प्रतीकात्मक** होते है। भारतेन्दु के अधिकांश नाटक **घटना-प्रधान** हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'अंधेर नगरी' आदि उनके घटना-प्रधना नाटक हैं। चन्द्रावली मुख्यत: **भावात्मक नाटक** है। इन नाटकों के कथानक से स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने अपने नाटकों की सामग्री जीवन के विविध क्षेत्रों से एकत्र की है। उनके कथानक मनोरंजक, प्रभावोत्पादक और रसपूर्ण हैं। उन्होंने प्राय: अपने सभी नाटकों में हास्य की योजना भी की है। इसके साथ ही वह देश-प्रेम और आर्य-गौरव को भी नहीं भूले हैं। अपने कथानक की सामग्री एकत्र करने में उन्होंने व्यापक दृष्टि से काम लिया है। गरीब-अमीर, कर्मण्य-अकर्मण्य, पंडित-मूर्ख, पुराण-इतिहास, धर्म-नीति, राजनीति, देश-विदेश सभी ओर उनकी दृष्टि गयी है। फलत: कल्पना-अनुभूति, आदर्श-यथार्थ और आकाश-पृथ्वी का अत्यन्त सुन्दर समन्वय उनके कथानकों में हुआ है।

[२] **वस्तु-योजना**—वस्तु-विन्यास की दृष्टि से उनके नाटकों में संस्कृत-परंपरा के अनुसार **प्रख्यात, उत्पाद्य** और **मिश्र**—तीनों प्रणालियाँ मिलती हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का वस्तु-विन्यास **प्रख्यात**; 'चन्द्रावली', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेरनगरी, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भावति' आदि नाटकों का वस्तु-विन्यास **उत्पाद्य** और 'नीलदेवी' का वस्तु-विन्यास **मिश्र** है। भारतेन्दु ने अपने इन नाटकों में वस्तु-संगठन अपने निजी

ढंग से किया है। उन्होंने ऐतिहासिक अथवा पौराणिक पात्रों की जीवन गाथा की विशेष घटनाएँ ही ली हैं और उन्हीं को नाटकीय रूप दिया है। हरिश्चन्द्र का सत्य-प्रेम, चन्द्रावली का कृष्ण-प्रेम, नीलदेवी की वीरता, भारत-दुर्दशा का राष्ट्र-प्रेम, अंधेरनगरी का हास-परिहास—इन्हीं मूल प्रवृत्तियों के आधार पर वस्तुओं का संगठन हुआ है। उनकी वस्तुओं में प्रायः प्रासंगिक वस्तुओं को स्थान नहीं मिला है। वस्तु-संगठन में उनकी विशेषता है सरलता। उनका वस्तु-संगठन जटिल नहीं है। एक ही कथा-वस्तु समान गति से आगे बढ़ती है और चरम सीमा पर पहुँचकर शीघ्रता से उतरने के पश्चात् अन्तिम फल को स्पष्ट झलका देती है। उनके वस्तु-संगठन में कार्य-व्यापार का अभाव अवश्य है, पर वह खटकता नहीं; उससे कथानक की रोचकता और चुस्ती में भी वाधा नहीं पड़ती। उसमें सबसे पहले सामान्य वातावरण का परिचय मिलत है, फिर इस परिचय से नाटक का परिचय मिल जाता है। यह गद्य अथवा पद्य में रहता है जो उत्तरोत्तर नाटकीय रूप धारण करता चलता है। स्वगतों और पात्रों से भी वस्तु-विन्यास में सहायता ली गयी है। पाश्चात्य परंपरा के अनुसार वस्तु का विभाजन पहले अंको में, फिर प्रत्येक अंक का दृश्यों में होता है। भारतेन्दु ने अपने ढंग से कथा-वस्तु का शृंगार किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'चन्द्रावली' आदि अंकों में विभाजित हैं, पर 'नीलदेवी' तथा 'भारत-दुर्दशा' आदि दृश्यों में। अंकों में छोटे बड़े होने का नियम नहीं है। कहीं आदि में छोटे हैं, कहीं बड़े। अंधेर नगरी में दृश्य शृंखलाबद्ध हैं। तत्कालीन नाट्य-परिस्थितियों के अनु-सार भड़कीले दृश्यों का आयोजन भी हुआ है और रंग-संकेत भी मिलते हैं। नान्दीपाठ, प्रस्तावना, भारतवाक्य आदि का संविधान तो कहीं-कहीं है, पर अर्थ-प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और संधियों के संविधान का प्रायः सर्वत्र अभाव है। इस प्रकार उनका वस्तु-संगठन यदि किसी अर्थ में प्राचीन है तो अधिकांश नवीन और आधुनिक है।

[२] **पात्र-योजना**—अपने मौलिक नाटकों में भारतेन्दु ने अपने

पात्रों का निर्माण बहुत-कुछ भारतीय परंपरा के अनुसार किया है। उनके पात्र जीवन का स्वस्थ और उज्ज्वल पक्ष ही हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। उनके सभी पात्रों में भारतीय संस्कृति भरी रहती है। उनके पात्र दो प्रकार के हैं—(१) विशिष्ट और (२) साधारण। विशिष्ट पात्रों में देवताओं, ऋषियों, संतों, पुरोहितों, राजवंशी क्षत्रियों, सभासदों और शिक्षितों को स्थान मिला है। साधारण पात्रों में मूर्ख, पाखंडी, मद्यपी आदि की गणना की जा सकती है। 'हरिश्चन्द्र' में इन्द्र, विश्वामित्र हरिश्चन्द्र; 'नीलदेवी' में सूर्यदेव, अमीर; 'चन्द्रावली' में कृष्ण कर्पूर मंजरी' में चंद्रपाल; 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में राजा, पुरोहित और 'भारत-दुर्दशा' में कवि, एडीटर ऐसे ही विशिष्ट नायक हैं। विशिष्ट नायकों की भाँति नायिकाएँ भी उच्चवंशीय और शिक्षित हैं। देश-काल के अनुसार साधारण पात्रों का प्रयोग अधिकांश प्रहसनों में हुआ है। भारतेन्दु के ऐसी सभी पात्र किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। हरिश्चन्द्र उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो सत्य के लिए अपना सब कुछ दे सकता है। 'नीलदेवी' उस वर्ग की वीर नारी है जो अपने सतीत्व और अपने देश की रक्षा के लिए अपने को भयंकर परिस्थितियों में डाल सकता है। चन्द्रावली कृष्ण-भक्ति की प्रतीक है। अब्दुश्शरीफ खाँ तत्कालीन मुसलिम मनोवृत्ति का परिचायक हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से हरिश्चन्द्र धीरोदात्त नायक हैं; कृष्ण धीरललित नायक हैं, सूर्यदेव धीरोद्धत नायक हैं और अब्दुश्शरीफ शठ नायक हैं। इन नायकों के अपने-अपने विशिष्ट गुण-दोष हैं। इसी प्रकार चन्द्रावली, शैव्या, नीलदेवी आदि नायिकाएँ विशिष्ट गुणों से संपन्न हैं। इन्हीं प्रधान पात्रों पर नाटक की संपूर्ण कथा-वस्तु आधारित रहती है। कथा-वस्तु में उनका स्थान सर्वोच्च है और वही कथा-सूत्र का विकास करते हैं। इससे हमें उनके प्रारंभिक और अंतिम रूप में विशेष अंतर दिखायी नहीं देता। वे एक साँचे में ढले हुए-से लगते हैं। वे नीचे से ऊपर उठते हुए नहीं जान पड़ते, उच्च भूमि पर ही अपने विशिष्ट गुणों का

उद्घाटन करते हैं । वे एक नपे-तुले मार्ग से चलते हैं । जीवन के मार्ग में जो उतार-चढ़ाव होता है वह उनमें नहीं है । ऐसा लगता है कि उन्हें जीवन में आनेवाली भावी कठिनाइयों का आभास है और वे उन पर विजय पाने की युक्तियों से भी परिचित हैं । इसीलिए उनमें न उत्कर्ष की चरम सीमा है, न द्वन्द्व और संघर्ष का विकास । आरंभ में हम जिस द्वन्द्व का परिचय पाते हैं वह थोड़ी देर पश्चात् एक सुनिश्चित मार्ग दिखाकर शान्त हो जाता है । हरिश्चन्द्र आरंभ में दानवीर और सत्यवीर हैं और अंत में भी उनका वही रूप है । चन्द्रावली भी जो आरंभ में है वही अंत में भी । अंधेरनगरी का चौपट राज भी इसी परंपरा का अनुगामी है । घटनाओं के बीच इनमें से किसी का व्यक्तित्व उभर नहीं पाता । उनमें न तो स्वतंत्र चिन्तन है और न अपना जीवन-पथ निर्माण करने की क्षमता । वे आदर्शवादी घेरे में ही उत्पन्न होते हैं और उसी के भीतर उनका अंत होता हैं । ऐसी दशा में सभी नाटक घटना-प्रधान हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अपने चरित्र-चित्रण में भारतीय परंपरा को ही महत्त्व दिया है । उनके पात्र आदर्शवादी हैं और वे हम पर गहरा प्रभाव डालते हैं । उनमें अंतर्द्वन्द्व नहीं है । जीवन की उठान के साथ-साथ पात्रों के व्यक्तित्व का जैसा विकास होना चाहिए वैसा भारतेन्दु के चरित्रों में नहीं है । उन्होंने पात्रों के हृदय में बैठकर उन्हें चित्रित नहीं किया है । कुछ तो समय की पुकार, कुछ हिन्दी के प्रचार की धुन, कुछ व्यक्तिगत जीवन की व्यस्तता—इन सब कारणों से उन्होंने चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में प्राचीन संस्कृत-परंपरा का ही समर्थन किया और उसमें यथाशक्ति स्वाभाविकता, रुचिरता, प्रमोत्पादकता, तन्मयता और सरलता लाने की चेष्टा की । इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो उनका चरित्र-चित्रण अत्यंत सफल है । पात्रों के चरित्र-उद्घाटन में उन्होंने उन सभी प्रणालियों का उपयोग किया है जो शास्त्रीय दृष्टि से मान्य हैं । कथोपकथन, स्वगत-भाषण, पत्र तथा किसी सीमा तक कार्य-व्यापार इन सब के द्वारा उनके

पात्र अपना चरित्र हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं और हमें प्रभावित करते हैं। इस दिशा में हिन्दी-नाट्य साहित्य को उनकी कोई विशेष मौलिक देन नहीं है।

[४] **संवाद-योजना**—नाटक-रचना में नाटकत्व और कवित्व लाने, कथा-प्रवाह को गतिशील बनाने तथा पात्रों के मनोवेगों और भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए कथोपकथन की आवश्यकता होती है। यह जितना ही सरस, स्पष्ट, स्वाभाविक, शिष्ट, चुटीला, भाव-व्यंजक और देश, काल तथा पात्र के अनुकूल होता है उतना ही नाटक की सौंदर्य-वृद्धि में सहायक होता है। हम बता चुके हैं कि भारतेन्दु के प्रायः सभी पात्र वर्गवादी हैं, वे किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण कथोपकथन से ही मिलता है। जो पात्र जिस वर्ग का है वह अपने वर्ग के अनुकूल ही अपने संवाद का रूप स्थिर करता है। नायक अपने वर्ग के अनुकूल और नायिकाएँ अपने वर्ग के अनुकूल। हरिश्चन्द्र, शरीफ, सूर्यदेव, पुरोहित, वेदांती, शैव, बंगाली, एडीटर, कवि, चपरगट्टू आदि जितने भी पात्र हैं और जिस वर्ग से आए हैं वे सब अपने-अपने वर्ग की मर्यादा का ध्यान रखकर बातें करते हैं। मूर्ख, पंडितों की बातें नहीं करता और पंडित मूर्खों की-सी। उनके कथन में राजा राजा है, सज्जन सज्जन है, और पाखंडी पाखंडी ही है। इसीलिए उनकी भाषा भी एक-सी नहीं है। जो पात्र जैसा है, जिस वर्ग का है वह अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा परिस्थिति के अनुकूल ही भाषा का व्यवहार करता है। हरिश्चन्द्र की ही भाषा सर्वत्र एक-सी नहीं है। परिस्थिति के अनुसार उसके विविध रूप हमारे सामने आये हैं। चन्द्रावली की भाषा विलाप के समय कुछ और है और सखियों के साथ झूला झूलते समय कुछ और। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक पात्र अपने वर्ग, देश, काल, मनोदिशा, शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्थिति के अनुकूल अपने

संवादों में अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं। इससे उनकी भाषा में विशेष स्वाभाविकता है।

भारतेन्दु के नाटकों में संवाद प्रायः दो या तीन पात्रों तक ही सीमित रहते हैं। संवाद में कथोपकथन के अतिरिक्त उनके पात्र स्वगत कथन और कभी-कभी व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक वर्णन का भी आश्रय लेते हैं। इस प्रकार उनके पात्रों के कथोपकथन में विविधता बनी रहती है, वह नीरस नहीं होने पाता। इसके साथ ही पात्रों की मनोदशा, उनके आन्तरिक भाव तथा उनसे संबंध रखनेवाली भावी और विगत बातों का भी परिचय मिल जाता है। 'नीलदेवी' में मुसलमान पात्रों अथवा नीलदेवी और राजकुमार तथा अन्य सैनिकों की बातचीत से भावी घटनाओं का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार चन्द्रावली और उसकी सखियों के संभाषण से विगत बातों की सूचना मिल जाती है। इस कार्य में कहीं-कहीं आकाश-भाषित से भी काम लिया गया है।

भारतेन्दु के अधिकांश संवाद लम्बे-चौड़े नहीं हैं, परन्तु जहाँ भावों की तीव्रता और रस की निष्पत्ति की आवश्यकता हुई है वहाँ वे स्वगतों के रूप में इतने अधिक लम्बे हो गये हैं कि नाटकीय कार्य-व्यापार की प्रगति में बाधक हो गये हैं, पर उनमें सरसता का अभाव नहीं है। कथोपकथन में स्थिति और अवसर के अनुकूल भावुकता का अंश भी अधिक है। प्रहसन के पात्रों में अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है और वह हास्य की सृष्टि में पर्याप्त सहयोग देता है।

भारतेन्दु के पात्र वाचाल नहीं हैं। वे अपनी बातें बड़े सरल और सीधे ढंग से कहते हैं। उनमें छल-कपट नहीं है। भावुक होने के कारण वे न तो दार्शनिकों की-सी बातें करते हैं और न शास्त्रियों की-सी पांडित्य-पूर्ण। काव्यात्मकता और आलंकारिकता भी उनके संवादों में नहीं है। कहीं-कहीं पद्यात्मक संवादों पर पारसी-कंपनियों की शैली का प्रभाव अवश्य दीख पड़ता है। संवादों के बीच में जो गीत और पद्य आये हैं वे

अवसर के अनुकूल कथा को गतिशील करते हैं और रस की निष्पत्ति में सहायक हैं। भारतेन्दु स्वयं संभाषण में निपुण थे। प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों से उनका परिचय था। वह सबकी भाषा, सबकी बोलने की शैली और सबकी रुचि-अरुचि से भलीभाँति परिचित थे। कब क्या कहना चाहिए? और किस प्रकार कहना चाहिए?—इसका उन्हें अच्छा ज्ञान था। भाषाएँ भी वह अनेक प्रकार की जानते थे। इसीलिए वह अपने कथोपकथन को सजीव, स्वाभाविक और आकर्षक बनाने में सफल हो सके हैं। उनके पास जैसी भाषा थी, जैसे पात्र थे और उन पात्रों की जैसी परिस्थितियाँ थीं उन सबके अनुकूल ही उन्होंने अपने पात्रों को वाणी दी और अपने युग का चित्र हमारे सामने उपस्थित किया।

[५] **देश-काल-योजना**—भारतेन्दु के नाटक अपने युग का प्रतिनिधित्व करने में अत्यन्त सफल हैं। उनके नाटकों में तत्कालीन जीवन का प्रत्येक पक्ष—सामाजिक, राजनितिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक प्रतिबिंबित हुआ है। उनका समय दो सभ्यताओं का संक्रांति-काल था। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में पृथ्वी की सारी मलिनता सजीव हो उठती है उसी प्रकार उस समय चारों ओर कुरीतियों और कुप्रथाओं का प्राबल्य था और धर्म तथा समाज के नाम पर नाना प्रकार के ढोंग रचे जा रहे थे। एक ओर अंगरेजों की साम्राज्यवादी नीति भारत का आर्थिक शोषण कर रही थी तो दूसरी ओर अंगरेजी-सभ्यता और साहित्य से प्रभावित शिक्षित वर्ग अपनी सभ्यता, संस्कृति और भाषा को हेय समझकर उसकी उपेक्षा कर रहा था। ईसाई और मुसलमान अपने-अपने धर्मों की दुहाई देकर हिंदुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए प्रोत्साहित और उनके धर्मों की खिल्ली उड़ा रहे थे। देश की राजनीतिक दशा भी अच्छी नहीं थी। भारतीयों के सभी अधिकार छिन गये थे। कर बढ़ाये जा रहे थे और कर तथा मँहगी के कारण जनता पीड़ित थी। हिन्दी और उसके साहित्य का तो कहीं पता ही नहीं था। ऐसा लगता था कि हिन्दी न तो कोई भाषा है और न उसके साहित्य का कोई

महत्त्व ही है। कचहरियों में उर्दू-फारसी का बोलबाला था। ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु ने हिन्दी को पुनः जीवित किया और उसके द्वारा उन्होंने सबको जगाया, सबको वाणी दी। उनके नाटक उनके युग का ही नहीं; पौराणिक और मध्य युगों का भी चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनमें कृष्ण से लेकर राम तक को स्थान मिला है। साहित्यिक दृष्टि से भी उनकी रचनाओं में वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल, रीति-काल तथा आधुनिक-काल एक साथ प्रतिबिंबित हो उठे हैं। इस प्रकार उनके नाटक तत्कालीन जीवन की ही कहानी नहीं कहते, भूतकाल की कहानी कहने के साथ-साथ भविष्य की ओर भी संकेत करते हैं। इन विशेषताओं के होते हुए भी देश-काल संबंधी दोष भी उनके नाटकों में पाये जाते हैं। प्राचीन पात्रों को आधुनिक वेश-भूषा में उपस्थित करना, हरिश्चन्द्र के कथानक में अपने समय की काशी का वर्णनकरना और अपने समय की काशी में पौराणिक कथानक को स्थान देना अनैतिहासिकता का दोष ही कहा जायगा। पर यदि हम भारतेन्दु के हृदय में बैठकर तत्कालीन युग के प्रति उनकी आकुलता-व्याकुलता की थाह लें तो हमें उक्त दोषों की उपेक्षा ही करनी होगी।

[६] **अभिनय-योजना**—भारतेन्दु के नाटकों में अभिनय-तत्त्व भी पाया जाता है। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि भारतेन्दु के समय में पारसी-व्यवसायी कंपनियों की बड़ी धूम थी और वे जनता की रुचि के अनुकूल अपने रंगमंच से दूषित मनोवृत्तियों को प्रोत्साहित कर रही थीं। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में भारतेन्दु के नाटकों का जन्म हुआ। उन्होंने अपने नाटकों को अभिनेय बनाया। उनके जीवन-काल में उनके सभी नाटकों का अभिनय न हो सका। इसलिए उनके नाटकों में अभिनय-कला संबंधी जो दोष थे वे ज्यों-के-त्यों रह गये।

भारतेन्दु अभिनय-कला में निपुण थे। वह स्वयं अभिनेता थे। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों की रचना में इस गुण से विशेष लाभ उठाया। कथानक, वस्तु-संगठन, अंक-योजना, दृश्य-योजना, रंग

संकेत, रंगमंच-संगठन—इन सब बातों की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने वस्तु-संगठन के अंकों और दृश्यों की पारस्परिक संबद्धता पर विशेष ध्यान दिया और उन्हें हिन्दी रंगमंच के योग्य सजीव, प्रभावोत्पादक और रस के अनुकूल बनाने की चेष्टा की। अपने दृश्य-संविधान में उन्होंने ऐसी अद्भुत और विलक्षण बातों को स्थान नहीं दिया जो रंगमंच से नहीं दिखायी जा सकती थीं। रंगमंच पर पात्रों की भीड़-भाड़ और जमघट भी उन्हें पसन्द नहीं था। वह हिन्दी के लिए साधु रंगमंच चाहते थे। पारसी-कंपनियों के भड़कीले रंगमंच वह कला की दृष्टि से अनुपयुक्त समझते थे।

शास्त्रीय दृष्टि से भी भारतेन्दु के सभी नाटक अभिनेय हैं। अभिनय के चार भेदों में से आंगिक और वाचिक तो उनके प्रत्येक नाटक में मिलते हैं। आहार्याभिनय का उदाहरण भी चोबदारों तथा सभासदों आदि की वेश-भूषा आदि से मिल जाता है। 'चंद्रावली' नाटिका में रोमांच, कंप, अश्रु आदि अवस्थानुकरण-द्वारा सात्विकाभिनय प्रस्तुत किया जा सकता है। पात्रों की अनुकृति भी सरल है। सत्य हरिश्चन्द्र, शैव्या, नीलदेवी, चन्द्रावली, अमीर, सूर्यदेव विश्वामित्र, भारत-भाग्य—इन सब पात्रों की अभिलाषाओं, मनोदशाओं, चेष्टाओं तथा संवादो का सरलतापूर्वक अनुकरण हो सकता है। समय की दृष्टि से भी उनके नाटक अधिक लम्बे नहीं हैं। दो-तीन घंटे में उनका अभिनय समाप्त हो सकता है। इन विशेषताओं के होते हुए भी उनके नाटकों को रंगमंच पर उतारने के लिए उनमें कुछ काट-छाँट करनी होगी। कुछ दृश्य अधिक लम्बे हो गये हैं, उन्हें छोटा करना होगा। लम्बे संवादों, स्वगत-कथनों और आकाश-भाषितों में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन की आवश्यकता होगी। कहीं-कहीं कार्य-व्यापार की योजना भी करनी होगी। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में यह दोष बहुत खटकता है। उसमें दृश्यों का भी विधान करना होगा। कथोपकथन से अधिकांश कविताएँ निकालनी होंगी और लम्बी कवि-

ताओं को लघु रूप देना होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के नाटक अभिनेय होते हुए निर्दोष नहीं हैं।

[७] **रस-योजना**—भारतेन्दु के नाटकों में उनकी रस-योजना अत्यन्त सफल है। उन्होंने अपने 'नाटक' में नौ रसों के अतिरिक्त भक्ति-प्रेम, सख्य, वात्सल्य और आनंद—इन चार रसों की और कल्पना की है। उनके अनूदित नाटकों में तो उनकी अपनी रस-योजना नहीं है, पर 'चन्द्रावली', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी', 'अंधेरनगरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि में उनकी अपनी रस-योजना है। 'चन्द्रावली' में वियोग श्रृंगार की प्रधानता है, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में वीर रस—दानवीर और सत्यवीर—की प्रधानता है। इस के अतिरिक्त उसमें रौद्र रस, अद्भुत रस, वीभत्स रस, करुण रस सभी—पाये जाते हैं। 'नीलदेवी' भी वीर-रस प्रधान रचना है। इसमें हास्य की भी सृष्टि हुई है। 'भारत-जननी' में करुण और वीर-रस प्रधान हैं। 'अंधेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम्' और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में हास्य और व्यंग के अच्छे छींटे हैं। इस प्रकार उनके नाटकों में प्रायः सभी रसों को स्थान मिला है और उनका परिपाक हुआ है। उनके रस-परिपाक में भी देश-हितैषिता की भावना छिपी रहती है। नाटक के सौंदर्य के लिए उन्होंने कहीं-कहीं विरोधी रसों की भी सृष्टि की है।

अब तक हमने भारतेन्दु के नाटकों के संबन्ध में जो कुछ कहा है उससे उनकी निम्न विशेषताएँ हमारे सामने आती हैं और यही विशेषताएँ हिन्दी-नाट्य साहित्य को उनकी मौलिक देन हैं :—

(१) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना में तीनों परंपराओं—अनुवाद, रुपान्तर और मौलिक को स्थान दिया है और उनके आधार पर हिन्दी की स्वतंत्र नाट्य-कला का निर्माण किया है।

(२) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना में संस्कृत-नाट्य कला के विविध रूपों—नाटक, नाटिका, सट्टक, भाण, व्यायोग, रूपक, प्रहसन, गीति रूपक, लास्य रूपक, सुखान्त, दुखान्त आदि के उदाहरण-द्वारा

हिन्दी-नाट्य-कला का विकास किया है और उसे एक सुनिश्चित मार्ग की ओर अग्रसर किया है।

(३) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना में विविध विषयों—पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, भावात्मक आदि का चित्रण किया है और उनके द्वारा अपने युग की आशा-निराशा, नीति-अनीति, राष्ट्रीय-अराष्ट्रीय, सांस्कृतिक-असांस्कृतिक, धार्मिक-अधार्मिक भावनाओं की यथार्थ आलोचना करके उन्हें नाटकीय रूप दिया है।

(४) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना में पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों को अपने युग की नव चेतना के अनुकूल वाणी दी है और उन्हें अभिनव रूप में हिन्दी-रंगमंच पर उतारा है। इसके साथ ही उन्होंने नवीन पात्रों की भी सृष्टि की है जो तत्कालीन जीवन के वास्तविक प्रतिनिधि हैं। उनके नाटकों में देवता, राजा, रंक, पाखंडी, धूर्त, शिक्षित, अशिक्षित, संत आदि सभी वर्गों के पात्र अपनी-अपनी मनोदशाओं का परिचय देते हैं।

(५) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना में प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य नाट्य-कलाओं का सुंदर समन्वय किया है और उस समन्वय-द्वारा हिन्दी-नाट्य-कला को विविधता और अनेकरूपता प्रदान की है।

(६) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना में साहित्यिक धारा को—उस धारा को जो उनके पूर्व, जीवन की दुरूह घाटियों से दूर, परियों के स्वप्निल देश में बह रही थी—जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के बीच प्रवाहित किया है और इस प्रकार उन्होने जीवन तथा साहित्य में समन्वय स्थापित करके हिंदी-नाट्य-कला को जीवन के सौंदर्य पर आधारित किया है।

(७) भारतेन्दु की नाट्य-साधना का एक व्यापक उद्देश्य है और उस उद्देश्य का हमारे भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन और साहित्य के साथ घनिष्ठ संबंध है। भारत की सांस्कृतिक तथा धार्मिक नव चेतना के साथ

उन्होंने अपने नाटकों में राष्ट्रीय चेतना का गठबंधन बड़े कौशल और कलात्मक ढंग से किया है। हिन्दी-नाट्य-कला को उनकी यह विशेष देन है।

(८) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना-द्वारा हिन्दी-रंगमंच का निर्माण किया है। हिन्दी-नाट्य-कला के साथ-साथ हिन्दी-रंगमंच का इतिहास भी उन्हीं के समय से आरंभ होता है।

(९) भारतेन्दु ने अपनी नाट्य-साधना में हिन्दी-गद्य को नाटकीय रूप दिया है और उसे अभिव्यंजना के संयोग से सशक्त और सप्राण बनाया है। पात्रों के मनोवेगों के अनुकूल कब-कैसी भाषा और शैली होनी चाहिए?—इसकी ओर भी उन्होंने संकेत किया है। इसके साथ ही उन्होंने अपने नाटकों के वस्तु-विधान के अनुकूल आवश्यक शास्त्रीय संगीत का भी संविधान किया है।

(१०) हिन्दी-रंगमंच की कठिनाइयों को हल करने के लिए भारतेन्दु ने अपने नाटकों में रंग-संकेतों का भी आयोजन किया है और उनके द्वारा रंगमंचीय सुविधाओं की ओर भावी नाटककारों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस प्रकार उन्होंने नाटक और रंगमंच की कलाओं में समन्वय स्थापित करके हिन्दी नाटकों को अभिनेय बनाने की प्रेरणा दी है।

भारतेन्दु की नाट्य-साधना के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ एक ओर अपने युग को साकार किया है और उसे वाणी दी है वहाँ उन्होंने हिन्दी-नाट्य-कला का शिलान्यास भी किया है। हिन्दी के नाट्य-साहित्य में उनका वही स्थान है जो संस्कृत-नाट्य-साहित्य में 'भरत मुनि' का है। वह हिन्दी-नाट्य-कला के अभिनव भरत हैं। हो सकता है कि आज की कसौटी पर वह खरे न उतरें, पर जिस युग में और जिन परिस्थितियों के बीच उन्होंने हिन्दी-नाटकों को जन्म दिया उस युग की कसौटी का निर्माण उन्होंने स्वयं अपने हाथों से किया था और उस पर उनके नाटक खरे उतरते हैं। वह हिन्दी-नाट्य-

कला के प्रतिनिधि कलाकार हैं और उनके नाटक हिन्दी की अमूल्य संपत्ति। जबतक भारत में हिन्दी का बोलबाला रहेगा तबतक उनके नाटक हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहेंगे और उनसे हमें स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती रहेगी।

अब भारतेन्दु के नाटकों की भाषा और शैली पर विचार कीजिए। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि भारतेन्दु ने जब नाटक-रचना की ओर ध्यान दिया तब उनके सामने हिन्दी-नाट्य कला के रूप-निर्माण की समस्या ही नहीं, भाषा का भी प्रश्न था। उस समय हिन्दी की तीन शैलियाँ थीं — राजा शिवप्रसाद की देवनागरी-लिपि में उर्दू-शैली, राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत-तत्सम-शब्द-प्रधान-शैली और कुछ लेखकों की ब्रजभाषा और खड़ीबोली की मिश्रित शैली। इन तीनों शैलियों की भाषा नाटक के लिए अनुपयुक्त थी। फारसी-तत्सम शब्द-प्रधान भाषा उन्हें स्वीकार नहीं थी। संस्कृत, तत्सम-शब्द-प्रधान भाषा उनके लिए उपयुक्त हो सकती थी, पर प्रचार और प्रसार की दृष्टि से वह अत्यधिक गंभीर और क्लिष्ट थी। ब्रजभाषा और खड़ीबोली मिश्रित भाषा में इतना पंडिताऊपन था कि उस पर विचार ही करना व्यर्थ था। ऐसी दशा में उन्होंने अपनी समन्वय-साधना से हिन्दी को एक नया रूप दिया। उनके इस नये रूप में न तो फारसी के तत्सम शब्दों का बाहुल्य था और न संस्कृत के तत्सम शब्दों के लिए विशेष आग्रह। उन्होंने हिन्दी से निष्प्राण, प्रभाव-हीन, कर्णकटु और अप्रचलित शब्दों को निकाल दिया और उनके स्थान पर संस्कृत के सरल शब्दों के साथ उर्दू, फारसी तथा अंगरेजी के उन शब्दों को स्थान दिया जो हिन्दी के साँचे में ढलकर अपना विदेशीपन खो सकते थे। अपनी इस भाषा का रंग-रूप संवारने में उन्होंने प्रचलित मुहावरों तथा हिन्दी-व्याकरण के सिद्धान्तों का भी ध्यान रखा। इससे उनकी भाषा चमक उठी। वह सरल, सरस, प्रवाहमय और भावपूर्ण हो गयी। अपने

भारतेन्दु की भाषा और शैली

नाटकों के लिए उन्होंने अपनी इसी भाषा को अपनाया और उसमें नाटकत्व और कवित्व की प्राण-प्रतिष्ठा की। इसमें संदेह नहीं कि आज की भाषा से वह मेल नहीं खाती। उसमें व्याकरण-संबंधी दोष हैं, शब्दों की खींच-तान है, वाक्य-विन्यास शिथिल और कला-हीन है, पर जिस युग में उसका निर्माण हुआ उस युग के लिए वही समर्थ, कला-संपन्न, आदर्श तथा उपयुक्त भाषा थी और आगे चलकर उसी भाषा में गद्य के विविध रूपों तथा शैलियों का विकास हुआ। आज हम जिस भाषा का प्रयोग कर रहें हैं उसका मूलाधार भारतेन्दु की ही भाषा है।

भारतेन्दु के नाटकों में कई प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं। उन्होंने धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, भावात्मक, परिहासात्मक आदि विषयों के अनुकूल ही अपनी शैली का रूप स्थिर किया है और उसे देश, काल तथा पात्र के अनुरूप विविधता प्रदान की है। उनके नाटकों में निम्न-लिखित शैलियाँ देखने को मिलती हैं :—

(१) भावात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग भारतेन्दु ने उन अवसरों पर किया है जहाँ उनके पात्र अपने हृदय के दुःख, क्षोभ, क्रोध, स्नेह और प्रेम के आवेग से भावुक हो उठे हैं। 'भारत-जननी', 'भारत-दुर्दशा,' 'चन्द्रावली', 'सत्य हरिश्चंद्र' तथा 'नीलदेवी' में इस शैली के अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं। इस शैली के अंतर्गत 'चंद्रावली' में खड़ीबोली के साथ-साथ ब्रजभाषा का भी प्रयोग हुआ है।

(२) व्यंगात्मक शैली —यह शैली हिन्दी-नाट्य-साहित्य को भारतेन्दु की देन है। इस शैली-द्वारा उन्होंने अपने नाटकों में हास-परिहास और व्यंग की सृष्टि की है। 'अंधेरनगरी', 'विषस्य विषमौषधम्' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में तो हास्य और व्यंग की छटा है ही, 'नीलदेवी' 'भारत-दुर्दशा' आदि में भी इस शैली को स्थान मिला है। इसके प्रति भारतेन्दु का सहज आकर्षण है।

(३) आलंकारिक शैली—जहाँ उनके नाटक की भाषा कवित्वपूर्ण हो गयी है वहाँ उनकी आलंकारिक शैली मिलती है। 'सत्य हरिश्चंद्र',

'चन्द्रावली', 'भारत-दुर्दशा' तथा 'नीलदेवी' में इस शैली का अच्छा प्रयोग हुआ।

(४) विश्लेषणात्मक शैली—इस शैली का प्रयोग अधिकांश दार्शनिक तत्थ्यों के निरूपण तथा तत्संबंधी सिद्धांतों के स्पष्टीकरण में हुआ है। उनकी इस शैली में सरसता के स्थान पर गंभीरता आ गयी है और कहीं-कहीं वह नाटककार न होकर उपदेशक अथवा वक्ता से प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं भाषा और शैली की दृष्टि से भी भारतेन्दु अपनी नाट्य-साधना में एक सफल कलाकार हैं। उन्होंने भाषा का ही संस्कार नहीं किया, अपितु कई ऐसी शैलियों को भी जन्म दिया जो आज भी हमारे लिए ग्राह्य और अनुकरणीय हैं।

भारतेन्दु के नाटकों में कुछ खटकनेवाले दोष भी हैं। कहीं भाषा उखड़ी-पुखड़ी है, कहीं शब्द-निर्माण व्याकरण के नियमों के अनुकूल नहीं हैं; कहीं वाक्य-विन्यास शिथिल है; कहीं कथोपकथन अपनी दीर्घता के कारण अस्वाभाविक, असंयत और नीरस हो गये हैं; कहीं देश-काल की भूलें हैं; कहीं पात्रों में कार्य-व्यापार का अभाव है; कहीं अभिनय संबंधी दोष हैं; कहीं वस्तु-शैथिल्य है; कहीं स्वगत कथन अपनी सीमा से इतने अधिक बढ़ गये हैं कि उनका महत्त्व ही नष्ट हो गया है; कहीं आकाश भाषित हास्यास्पद हो गये हैं; कहीं अंक हैं तो कहीं दृश्य; कहीं जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का चित्रण न करके आदर्श परिस्थितियों का निर्माण किया गया है और पात्रों में अंतर्द्वन्द्व का सर्वथा अभाव है। ऐसा लगता है कि उनके पात्रों में न तो सोचने की शक्ति है, न स्वतंत्र रूप से अपना जीवन-निर्माण करने की क्षमता। जीवन के आदर्शवादी घेरे के भीतर ही वे घूमा करते हैं और कर्तव्याकर्तव्य की छान-बीन करते हैं।

भारतेन्दु के उपर्युक्त दोषों को देखकर हमें चौंकना नहीं चाहिए। हमें उनकी नाट्य-साधना की समीक्षा करते समय यह न भूलना चाहिए

कि जबतक कला का रूप स्पष्ट नहीं होता, भाषा में बल नहीं आता और उसमें भाव-प्रकाशन की सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होती, तबतक कला की चरमाभिव्यक्ति, मनोदशा का यथार्थ चित्रण, आंतरिक विशिष्टताओं का विश्लेषण और स्पष्टीकरण प्रायः असंभव-सा रहता है। ऐसी दशा में प्रत्येक भाषा के साहित्य की आदिम अवस्था असंयत ही रहती है। यह देखा जाता है कि प्रथम उसमें रचनाओं की सृष्टि होती है, फिर उनकी उन्नति होती है और उनके गुण-दोषों के आधार पर सिद्धांत स्थिर होते हैं। सिद्धांत स्थिर होने के पश्चात् नयी-नयी रचनाएँ सामने आती हैं और फिर साहित्य के विविध अंगों का क्रमशः संवर्धन और विकास होता है। भारतेन्दु-युग हिन्दी-नाट्य साहित्य का विकास-काल नहीं, शिलान्यास-काल था। उस समय हिन्दी-नाट्य-कला की नींव डाली जा रही थी और उसकी नींव डालनेवाले थे स्वयं भारतेन्दु। नाटक-रचना में उनका उद्देश्य नाट्य-कला को जन्म देना ही नहीं था। वह अपने नाटकों-द्वारा हिन्दी का प्रचार, भारत की प्राचीन संस्कृति का पुनरुद्धार, राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार, दूषित भावनाओं का परिष्कार, अँगरेजी-सभ्यता के उपासकों की मनोवृत्तियों का संस्कार, सामाजिक कुरीतियों का सुधार और हिन्दी-रंगमंच का शृंगार भी करना चाहते थे। इतने उद्देश्यों को एक साथ लेकर चलना और फिर उनका सफलतापूर्वक निर्वाह करना साधारण काम नहीं था। भारतेन्दु को अपने इन समस्त उद्देश्यों में पूर्ण सफलता मिली। उन्होंने नाट्य-कला की सृष्टि ही नहीं की, अपितु अपने अभिनय-द्वारा उस दूषित मनो-वृत्ति को भी शिक्षितों के हृदय से निकाल दिया जिसके कारण रंगमंच व्यभिचार के अड्डे माने जाते थे। इस दृष्टि से जब हम उनकी नाट्य-साधना पर विचार करते हैं तब हमें हिन्दी-नाट्य-साहित्य के इतिहास में प्रकाश-स्तंभ की भाँति चमकते हुए से दीख पड़ते हैं।



: २ :

जयशंकर प्रसाद

जन्म सं० १९४६

मृत्यु सं० १९९४

बीसवीं शताब्दी का आरंभ होते ही भारतीय जन-जीवन में एक बार फिर आँधी आयी। इस आँधी ने हमारी राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक परंपराओं की जड़ें हिला दीं और हमें अपनी शताब्दियों की पराधीनता के बन्धन काटने के लिए प्रोत्साहित किया। हमने उत्तरदायी शासन की माँग की। हमारी इस माँग ने हमें एकता के सूत्र में बाँध दिया। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक हमारी स्वतंत्रता की भावना सशक्त और साकार हो उठी। तत्कालीन विदेशी सरकार ने रौलट एक्ट-द्वारा हमारी इस भावना को दबाने की भरपूर चेष्टा की, पर वह किसी प्रकार भी दब न सकी। उसकी दमन-नीति ने स्वतंत्रता के यज्ञ में घृत का कार्य किया। चारों ओर क्रान्ति का उद्-घोष सुनायी पड़ने लगा और फिर हुआ अमृतसर का हत्याकांड। इस हत्याकांड ने हमें एक महान् चुनौती दी। हमारी हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ

प्रसादजी का महत्त्व

जाग उठीं। ऐसी तूफानी परिस्थिति में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा की संजीवनी शक्ति से पुष्ट होकर देश की उठती हुई उमंगों का नेतृत्व स्वीकार किया। उन्होंने हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अपने सबल व्यक्तित्व से प्रभावित किया और अपने सत्य और अहिंसा के पावन संदेश से हमारी हिंसात्मक मनोवृत्तियों का संस्कार किया। उनसे हमें जीवन की एक नयी व्याख्या मिली जिसके आलोक में हमने अपने वर्तमान को ही नहीं, अपितु अपने भूत को परखने और अपने भविष्य को संवारने की भी चेष्टा की। इस प्रकार जीवन के नये-नये विषय, उसकी नयी-नयी समस्याएँ हमारे सामने आयीं और हमने उन सब पर नये दृष्टिकोण से विचार करना आरंभ किया। ऐसी दशा में हमारा साहित्य उससे अछूता न रह सका। उसे भी तत्कालीन नव-चेतना के अनुकूल अपने रंग-रूप में परिवर्तन करना पड़ा। प्रसादजी इसी परिवर्तन के अग्रदूत बनकर हमारे सामने आए। उन्होंने कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक—इन सबमें प्राचीन परंपराओं का वहिष्कार किया और उन्हें एक बँधे हुए घेरे से निकालकर नये विषयों, नयी अनुभूतियों और नयी कलाओं से अनुप्राणित किया।

प्रसादजी आरंभ में कल्पना और अनूभूति के कवि थे। उनके व्यक्तित्व में कवित्व समाया हुआ था। वह थे तो द्विवेदी-युग में, पर उस युग की विचार-धारा से वह सर्वथा भिन्न थे। उन्होंने उस युग की परंपरा से कुछ भी ग्रहण नहीं किया। उनकी भाव-भूमि ही अलग थी। हिन्दी-साहित्य में जो है अथवा हो रहा है उसकी पुनरावृत्ति करना उन्होंने अपनी साहित्य-साधना का लक्ष्य नहीं बनाया। ऐसी दशा में उनका ध्यान हिन्दी-साहित्य के अभावों की ओर आकृष्ट हुआ। पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य के प्रचार एवं प्रसार से तत्कालीन बँगला-साहित्य में काव्य की जो नयी-नयी शैलियाँ—छायावाद, रहस्यवाद, स्वच्छंदतावाद आदि—जन्म ले रही थीं उनसे उन्हें विशेष प्रेरणा मिली। वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, ब्लैक आदि अँगरेजी के रोमांटिक

कवियों की रचनाओं से उनका परिचय हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' से भी उन्हें नयी स्फूर्ति और चेतना मिली। उसकी औपनैषदिक रहस्यवादिता और भावुकता ने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया। फलस्वरूप उनके द्वारा एक ऐसे काव्य की सृष्टि हुई जिसने हिन्दी-काव्य-धारा की दिशा में आमूल परिवर्तन कर दिया। हिन्दी का कथा-साहित्य भी उनकी इन नवीन प्रवृत्तियों से प्रभावित हुआ। वेद, पुराण, इतिहास तथा दर्शन-शास्त्रों के गंभीर अध्ययन से उन्होंने ऐसे कथानक खोज निकाले जिनमें आर्य-संस्कृति की अमूल्य निधियाँ सुरक्षित थीं। इन्हीं कथानकों के आधार पर उन्होंने अपने युग की राष्ट्रीय चेतना के अनुकूल नाटकों की रचना की। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-काव्य को ही नहीं, अपितु हिन्दी-नाट्य-साहित्य को भी अपनी बहुमुखी प्रतिभा से अभिनव रूप प्रदान किया। निष्कर्ष यह कि द्विवेदी-काल के साहित्यकारों की अति-सतर्कता और शैलीगत-संयम के कारण हिन्दी-भाषा और साहित्य में जो रूढ़िवादिता आती जा रही थी उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उन्होंने एक ऐसे युग का निर्माण किया जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'प्रसाद-युग' माना जाता है।

प्रसादजी का नाट्य-साहित्य

हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु-युग उसका प्रयोग-काल था। अनुवाद, रूपान्तर और मौलिक नाटकों की जो परंपराएँ हमें उस काल से मिलीं उनका, द्विवेदी-युग के प्रथम उत्थान-काल में, विशेष विकास नहीं हुआ। अँगरेजी तथा बँगला के कुछ नाटकों के अनुवाद अवश्य हुए और उनसे नवीन नाट्य-विधान की धूमिल रेखाएँ भी सामने आयीं, पर उस समय पारसी-रंगमंच का प्रभाव इतना अधिक था कि उत्कृष्ट मौलिक नाटक-रचना की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया। भारतेन्दु ने अपने समय में जिस हिन्दी-रंगमंच की स्थापना की थी वह भी पारसी-रंगमंच की तड़क-भड़क के सामने निष्प्राण हो गया। ऐसी विषम परिस्थिति में प्रसादजी ने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश किया और काव्य

साथ-साथ नाट्य-कला को भी अपनी प्रतिभा की खराद पर चढ़ाकर चमका दिया। काल-क्रम के अनुसार उन्होंने निम्नलिखित नाटकों की रचना की है:-

१. सज्जन :·········१९६७-६८	२. कल्याणी-परिणय : ···१९६९
३. करुणालय :··········१९६९	४. प्रायश्चित :···········१९७१
५. राज्यश्री :············१९७२	६. विशाख :·············१९७८
७. आजात शत्रु :·········१९७९	८. कामना :·········१९८०-८१
९. जनमेजयकानाग-यज्ञ :··१९८३	१०. स्कन्दगुप्तः············१९८५
११. एक घूंट :············१९८६	१२. चन्द्रगुप्तः·············१९८८

१३. ध्रुवस्वामिनी : १९९०

विषय की दृष्टि से उपर्युक्त समस्त नाटकों के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं:—

१. **पौराणिक**—सज्जन, करुणालय और जनमेजय का नाग-यज्ञ।

२. **ऐतिहासिक**—कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित, राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी।

३. **दार्शनिक**—कामना और एक घूँट

शैली की दृष्टि से उनके निम्नलिखित भेद हो सकते हैं:—

१. **एकांकी**—सज्जन, कल्याणी-परिणय, करुणालय और प्रायश्चित।

२. **गीति नाट्य**—करुणालय।

३. **प्रतीकात्मक एकांकी**—कामना और एक घूंट।

४. **नाटक**—राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नाग-यज्ञ, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी।

प्रसादजी की नाट्य-कला

प्रसादजी के नाटकों के इस विवरण से तीन मुख्य बातें हमारे सामने आती हैं—एक तो यह कि उन्होंने अपने नाटकों के कथानकों की सामग्री मुख्यत: पुराण और भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग से एकत्र की है, दूसरी यह कि उन्होंने कई प्रकार के नाटकों की सृष्टि की है और तीसरी यह कि प्रथम पाँच नाटकों की रचना करने के पश्चात् उन्होंने लगभग छः वर्ष तक कोई नाटक नहीं

लिखा। सं० १६७८ से उन्होंने नाट्य-रचना की ओर फिर ध्यान दिया और तब से अपनी मृत्यु के चार वर्ष पूर्व तक वह बराबर लिखते रहे। इस प्रकार रचना-काल की दृष्टि से उनका संपूर्ण नाट्य-साहित्य हमें दो रूपों में मिला—(१) सं० १९६७ से सं० १९७२ तक का नाट्य-साहित्य और (२) सं० १९७८ से सं० १९९० तक का नाट्य साहित्य। अपनी सुविधा के लिए हम प्रथम काल के नाटकों को **प्रथम विकास-काल** और द्वितीय काल के नाटकों को **द्वितीय विकास-काल** कह सकते हैं। अपनी नाट्य-रचना के प्रथम विकास-काल में उन्होंने क्रमशः **सज्जन, कल्याणी-परिणय, करुणालय, प्रायश्चित** और **राज्यश्री** की रचना की। नाटकीय कला की दृष्टि से इन रचनाओं को हम प्रयोग-कालीन रचनाएँ कह सकते हैं। विशाख, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नाग-यज्ञ, स्कन्दगुप्त, एक घूंट, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी द्वितीय विकास-काल के नाटक हैं। इन नाटकों में उनकी नाटकीय कला को अपने विकास के लिए दृढ़ भूमि मिली है। ऐसी दशा में उनके नाटकों की कला के संबन्ध में कोई सामान्य धारणा नहीं बनायी जा सकती। उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास है जिसका क्रमशः विकास हुआ है। कलात्मक प्रयास अभ्यास की अपेक्षा रखना है। इसीलिए उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास के साथ-साथ अभ्यास के चिह्न भी मिलते जाते हैं। 'विशाख' के पश्चात् धीरे-धीरे उनकी एक ही प्रकार की शैली और कला विकसित होती हुई चली जाती है। उनके नाट्य-कला की यह अपनी विशेषता है।

हम बता चुके हैं कि तत्कालीन साहित्यकारों में प्रसादजी का स्वतंत्र व्यक्तित्व था। वह 'लकीर के फकीर' नहीं थे। वह साहित्य में नूतनता के उपासक थे। हिन्दी-साहित्य की प्राचीन परम्पराओं के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हुए भी उन्होंने, उन्हें ज्यों-का-त्यों नहीं अपनाया। जिस युग ने उनके व्यक्तित्व का निर्माण किया था वह प्राचीनता में नूतनता की सृष्टि करना चाहता था। प्रसादजी ने भी यही किया।

जिस समय उन्होंने नाटक-रचना के लिए लेखनी उठायी उस समय उनके सामने चार प्रकार की नाट्य-कलाएँ थीं—(१) **संस्कृत-नाट्यकला, (२) पाश्चात्य नाट्यकला,** (३) पाश्चात्य नाट्यकला से प्रभावित **बँगला नाट्यकला** और (४) **पारसी-कंपनियों की नाट्यकला**। उन्होंने इन चारों नाट्यकलाओं से कुछ-न-कुछ लिया और उसे, अपनी प्रतिभा से, नया रूप देने की चेष्टा की। यह उनके नाट्यकला की दूसरी विशेषता है।

प्रसादजी ने अपने युग की चारों नाट्यकलाओं से क्या लिया ? और उसे नूतन रूप देने में उन्हें कहाँ तक सफलता मिली ?—इन दोनों प्रश्नों का उत्तर प्रथम चार एकांकियों से मिलने लगता है। 'सज्जन' उनका प्रथम एकांकी रूपक है। इस पर प्राचीन शैली का स्पष्ट प्रभाव है। आरंभ में सूत्रधार तथा नटी का आयोजन है और अन्त में प्रशस्ति-वाक्य-द्वारा मंगल-कामना की गयी है। इसमें स्वगत कथन को भी स्थान दिया गया है। 'प्रायश्चित' में न नांदी पाठ है, न सूत्रधार, न नटी का आयोजन और न अन्त में प्रशस्ति-वाक्य। ऐसा लगता है कि प्रसादजी ने 'सज्जन' में प्राचीन नाट्य-परंपरा का जो प्रयोग किया वह असफल रहा और इसलिए उन्होंने उसे फिर 'प्रायश्चित' में स्थान देने की आवश्यकता नहीं समझी। इसमें स्वगत कथन तो रहा, अन्य बातें हटा दी गयीं पर, एक नयी चीज—आकाशवाणी—का अनावश्यक आयोजन कर दिया गया। इनके अतिरिक्त पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुसार कथोपकथन की भाषा भी बदली और कथानक एक ही घटना पर आश्रित रहा। 'कल्याणी-परिणय' के कथानक में भी एक ही घटना को महत्त्व दिया गया। आरंभ में मंगलपाठ और अन्त में प्रशस्ति वाक्य की योजना नवीन ढङ्ग से की गयी। पात्रों की भाषा में रूप-परिवर्तन तो नहीं हुआ, पर प्रसंगानुकूल गीतों को स्थान दिया गया। 'करुणालय' की रचना गीति-नाट्य के ढङ्ग पर की गयी। इसमें सम्पूर्ण कथानक को पाँच दृश्यों में विभाजित किया गया और

तुकान्तहीन मार्मिक छन्दों में इसकी रचना हुई। हिन्दी-नाट्य-साहित्य में यह अपने ढङ्ग की पहली रचना थी। इसमें नेपथ्य का भी आयोजन किया गया।

यहाँ तक तो हुआ चारों एकांकियों पर संस्कृत-नाट्य-परंपरा का प्रभाव। अँगरेजी-नाट्य-कला का प्रभाव कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण पर पड़ा। प्राचीन रूपकों में रस का परिपाक प्रधान लक्ष्य था। प्रसादजी ने पाश्चात्य नाट्यकला के अनुसार उद्देश्य-सिद्धि को महत्व दिया और अपनी कथा-वस्तु में संघर्षमय परिस्थितियों की सृष्टि की। इस प्रकार पौराणिक तथा ऐतिहासिक काल के आदर्श-पात्र जीवन की यथार्थ भूमि पर उतारे गये और स्वाभाविक ढङ्ग से उनके चरित्र का विकास दिखाने का पहली बार उपक्रम किया गया। यह सत्य है कि प्रसादजी को आरंभ में इस प्रकार के नवीन प्रयोगों में सफलता नहीं मिली, न तो कथावस्तु के संगठन में और न पात्रों के चरित्र-विकास में—पर आगे चलकर उन्होंने इस दिशा में विशेष सफलता प्राप्त की और हमें ऐसे नाटक दिये जो तत्संबन्धी विशेषताओं के कारण हिन्दी-नाट्य-साहित्य में अमर हैं।

पारसी-कंपनियों की नाट्य-कला तथा संस्कृत-नाट्य-कला का सम्मिलित प्रभाव पात्रों के कथोपकथन पर देखा जा सकता है। वाक्य के अन्त में तुक का आग्रह तथा गद्यात्मक संवादों के साथ-साथ पद्यात्मक संवादों की सृष्टि यह सिद्ध करती है कि वह अपने इस नाटकीय तत्व की योजना में पारसी-नाटकीय-कथोपकथन को अभिनव रूप देने का प्रयास कर रहे थे और जब उन्हें अपने प्रयास में सफलता नहीं मिली तब उन्होंने धीरे-धीरे इसका परित्याग किया। 'सज्जन' में पद्यात्मक अंश की अधिकता है, 'प्रयाश्चित' में उसका अभाव है, कल्याणी-परिणय में फिर उसकी अधिकता है और 'करुणालय' तो उनका गीति-नाट्य ही है। 'विशाख' के भी सभी पात्र पद्यों में बातें करते हैं। 'अजातशत्रु' में भी इस प्रकार के अस्वाभाविक कथोपकथन को स्थान मिला है। स्पष्ट है कि प्रसादजी अपने

प्रयोग-कालीन नाटकों में पद्यात्मक रचना का लोभ-संवरण नहीं कर सके हैं। इसका एक कारण उनका काव्य-प्रेम भी हो सकता है। बीच-बीच में संगीत का आयोजन उनके काव्य-प्रेम को ही पुष्ट करता है।

नाट्य-कला की दृष्टि से प्रसादजी के द्वितीय विकास-काल के तीन नाटक—'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इन नाटकों में संस्कृत-परंपरा का पालन केवल स्वगत-कथन के रूप में यत्र-तत्र किया गया है। 'कामना' में भरत-वाक्य, समवेत-गान के रूप में दिया गया है। संधियों, अर्थ-प्रकृतियों तथा कार्य-अवस्थाओं के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुसार कथा-वस्तु की गति का विकास किया गया है। अप्रत्याशित घटनाओं की सृष्टि से कथा-वस्तु में गतिशीलता के साथ-साथ चमत्कार भी उत्पन्न किया गया है। नायक-प्रतिनायक आदि जहाँ एक ओर भारती नाट्य-शास्त्र की परिभाषा की अनुकूल सर्व गुण-संपन्न है, वहाँ दूसरी ओर वे पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुसार द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों और अन्तर्द्वन्द के बीच अपने चरित्र का विकास करते हैं। नियतिवादी होने पर भी वे सक्रिय और संघर्षशील हैं। वे 'लकीर के फकीर' नहीं हैं। वे सोचते हैं और सोचकर आगे बढ़ते हैं। उनमें कार्य-व्यापार की क्षमता है। वे अधिक भावुक भी हैं। भावुकता के आवेश में वे विचारहीन भी हो जाते हैं।

रस-सिद्धान्त की दृष्टि से प्रसादजी के नाटकों में वीर रस-प्रधान और शृंगार सहायक रूप में आता है। करुण-रस की उद्भावना में उन्हें विशेष सफलता मिली है। युद्ध-मृत्यु, आत्महत्या आदि रंगमंच पर दिखाना भारतीय परंपरा के अनुकूल नहीं है। यह नितान्त अभारतीय प्रवृत्ति है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में इस प्रवृत्ति को भी स्थान दिया है। 'स्कन्दगुप्त' में विजया की आत्म-हत्या, 'चन्द्रगुप्त' में नन्द और पर्वतेश्वर का वध तथा कल्याणी की आत्म-हत्या आदि पर पाश्चात्य पात्रों की प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रसादजी के नाटकों में अंकों और दृश्यों के विभाजन का

सिद्धान्त एक-सा नहीं है। कहीं अंक हैं, कहीं दृश्य और कहीं तत्सूचक संख्याएँ। 'चन्द्रगुप्त' में दृश्य-सूचक संख्याओं का उपयोग हुआ है। ऐसा लगता है कि इस संबंध में 'प्रसादजी' किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके हैं। फलस्वरूप उनके सभी नाटकों में कई ऐसे दृश्य आ गये हैं। जिनकी कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। उनसे कलेवर-वृद्धि तो होती है, कथानक की गति में विशेष सहायता नहीं मिलती। अंकों के विभाजन में भी इसी प्रकार की शिथिलता पायी जाती है। अंकों के अंतर्गत दृश्यों की संख्या भी अधिक है जिनमें से कुछ तो छोटे हैं और कुछ बहुत विशाल। अभिनय की दृष्टि से अंकों के अन्तर्गत दृश्यों की संख्या में क्रमानुसार कमी होनी चाहिए और उनका आकार-प्रकार भी अपेक्षाकृत लघु होना चाहिए, परन्तु इस साधारण नियम की भी प्रायः उपेक्षा ही की गयी है।

प्रसादजी के नाटकों का आरंभ और अन्त अत्यन्त प्रभावशाली और कलात्मक होता है। उनमें आरंभ से ही कौतूहल और जिज्ञासा भरी रहती है और द्वन्द्वात्मक वातावरण का चित्र सामने आ जाता है। यही द्वन्द्वात्मक वातावरण कथानक के साथ विकसित होता है और चरम सीमा पर पहुँचकर चमक उठता है। प्रसादजी के नाटकों का अन्त न तो नितान्त सुखान्त और न नितान्त दुखान्त होता है। जीवन के इन दोनों कूलों को छूती हुई उनकी नाट्य-धारा 'प्रसादान्त-सरिता' अथवा 'प्रशान्त' की ओर उन्मुख होती है। हिन्दी-नाट्यकला को यह उनकी अनुपम देन है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी ने अपनी नाट्यकला का स्वयं निर्माण किया है। पहले उन्होंने अपने समय की समस्त नाट्य-परंपराओं की छान-बीन की है और फिर उन्हें अपने नाटकों में स्थान दिया है। इसीलिए उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास अधिक है। अपने इस प्रयास में वह कहीं सफल हुए हैं, कहीं विफल; कहीं उठे हैं, कहीं गिरे हैं। उनके इस उठने-गिरने में ही हिन्दी-नाट्यकला का विकास हुआ है।

प्रसाद जी की नाट्य-कला कहाँ से आरम्भ होकर कहाँ पहुँची है और उनकी नाट्यकला का क्या रूप है ?—इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर हम उपर्युक्त पंक्तियों में पा चुके हैं। उस उत्तर से स्पष्ट है कि उन्होंने स्वान्तःसुखाय नाटकों की सृष्टि नहीं की है। नाटक-रचना में उनका कोई-न-कोई उद्देश्य रहा है। हम बता चुके हैं कि उनका युग नव चेतना का सक्रिय युग था। उसमें केवल विचार को ही नहीं, उस विचार को क्रियान्वित करने की ओर भी लोगों का ध्यान था। प्रसादजी ने अपने युग की इस प्रवृत्ति से पूरा लाभ उठाया। उन्होंने काव्य-रचना के साथ-साथ नाटक-रचना की ओर भी ध्यान दिया और उसके द्वारा अपने युग की राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतनाओं का नेतृत्व किया। इस दृष्टि से वह हिन्दी के युग-प्रवर्तक नाटककार माने जाते हैं। उनकी नाट्य-साधना में निम्नलिखित तत्त्वों का विशेष महत्त्व है :—

प्रसादजी की नाट्य-साधना

[१] **कथा-योजना**—प्रसादजी भारतीय संस्कृति के उपासक थे। क्या काव्य, क्या उपन्यास और क्या कहानी, अपने साहित्य के इन समस्त अंगों में उन्होंने अपनी इसी प्रवृत्ति को प्रधानता दी है। उनके नाटकों के कथानक भी भारत की प्राचीन सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न हैं। भारतेन्दु-युग में इस सांस्कृतिक चेतना की विशेष छान-बीन नहीं हुई। उस समय के नाटककारों में गंभीर विश्लेषणात्मक तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अभाव था। उन्हें यत्र-तत्र बिखरी हुई जो पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथाएँ मिल जाती थीं उन्हीं को ज्यों-का-त्यों अथवा थोड़े हेर-फेर के साथ नाटकीय कथानक का रूप दे देते थे। इसीलिए उस युग में एक ही कथानक पर आश्रित भिन्न-भिन्न नाटक मिलते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उस समय के नाटकों में न तो विषय की अनेकरूपता थी, न मौलिकता। प्रसादजी ने अपने नाटकों के कथानक में नवीनता का आयोजन किया। उन्होंने संपूर्ण महाभारत काल को न लेकर उसके अन्त से श्रीहर्ष तक का समय

अपने कथानकों के लिए चुना और उसके विभिन्न रूपों में सांस्कृतिक आधार पर एकता स्थापित की। इसके साथ ही उन्होंने प्राचीन इतिहास की तत्कालीन परिस्थितियों में आधुनिक भारत की अवस्था के कारणों की भी खोज की और उनसे मुक्त होने के लिए हमें अनुप्राणित किया। उनके नाटकीय कथानकों की ये दोनों विशेषताएँ अपने में अत्यन्त महान् हैं।

विषय की दृष्टि से प्रसाद जी के कथानक तीन प्रकार के हैं—(१) पौराणिक, (२) ऐतिहासिक और (३) भावात्मक। 'कामना' और 'एक घूँट' में दार्शनिक भावनाओं को मूर्त-रूप प्रदान किया गया है। इनके अतिरिक्त उनके शेष नाटक पुराण अथवा इतिहास की घटनाओं पर आधारित हैं। इन घटनाओं के चयन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने 'विशाख' की भूमिका में लिखा है—'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।' अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने महाभारत-युद्ध के बाद से हर्ष-वर्धन के राज्य-काल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। यही काल ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का स्वर्ण-काल है। बौद्ध-काल, मौर्य-काल और गुप्त-काल—आर्य-संस्कृति के तीन उत्थान-काल हैं। इन्हीं तीनों कालों से उन्होंने अपने कथानकों की सामग्री एकत्र की है। जनमेजय, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त तथा हर्षवर्धन जहाँ उस काल के पुरुष-प्रतिनिधि हैं, वहाँ राज्यश्री और ध्रुवस्वामिनी भी तत्कालीन नारी-समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकार इन पुरुष और नारी-पात्रों द्वारा उस काल की समस्त सांस्कृतिक, राष्ट्रीय तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ हमारे सामने साकार हो उठती हैं।

प्रसादजी ने अपने स्वच्छन्दवादी कथानकों को पुराण अथवा इतिहास की वास्तविक भूमि पर ही आश्रित नहीं किया है। यदि वह

ऐसा करना भी चाहते तो कर नहीं सकते थे। उनके पास जो पौराणिक तथा ऐतिहासिक सामग्री थी उसमें नाटकीय कथानक के तत्त्व तो थे, पर उसमें सामंजस्य नहीं था। ऐसी दशा में उन्होंने अपनी प्रतिभा और कल्पना के बल से उसमें सामंजस्य की स्थापना की। कल्पना का प्रयोग उन्होंने दो प्रकार से किया—एक तो वहाँ जहाँ घटनाओं में असंवद्धता थी और दूसरे वहाँ घटनाओं में संवद्धता होते हुए भी पात्रों का पता नहीं था। इस प्रकार उन्होंने यथार्थ और कल्पना के उचित समन्वय-द्वारा अपने कथानकों में गति, चमत्कार और रस की स्थापना की है। 'स्कन्दगुप्त' में शर्वनाग, चक्रपालित और मातृगुप्त की नाटकीय स्थिति कल्पना पर ही आश्रित है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के बीच जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह भी कल्पना-जन्य ही है। इसी प्रकार की कल्पना-जन्य-संबन्ध-योजना उनके अन्य नाटकों में भी मिलती है। कल्पना का दूसरा प्रयोग अनैतिहासिक पात्रों की सृष्टि में किया गया है। देवसेना, अलका, विजया आदि कल्पित अभिनेत्रियाँ ही हैं। इन अभिनेत्रियों के साथ-साथ शिखरस्वामी, महापिंगल, विकटघोष आदि पुरुष-पात्रों की भी कल्पना की गयी है। आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं परिस्थितियों की भी कल्पना की गयी है। अपने कथानकों में इन कल्पना-तत्त्वों का समावेश उन्होने इतने कलात्मक ढङ्ग से किया है कि कोई कथानक असंबद्ध, उखड़ा-पुखड़ा अथवा शिथिल नहीं जान पड़ता। उसमें घटनाओं की जमघट होते हुए भी आदि से अन्त तक एक-रसता बनी रहती है। उनके कथानक की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

[२] **वस्तु-योजना**—नाटकीय विधान में वस्तु-विन्यास का विशेष महत्त्व होता है। वास्तव में इसी तत्त्व पर चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, रस-परिपाक आदि की सफलता आश्रित रहती है। यह जितना ही सुगठित, सुव्यवस्थित और देश-काल तथा पात्र के अनुकूल रहता है उतना ही नाटक प्रभावोत्पादक और मनोरंजक होता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में वस्तु-तत्त्व के व्यापक नियम मिलते हैं। प्रसादजी ने अपने

कथानकों के वस्तु-विन्यास में उन्हीं नियमों का पालन किया है। उन्होंने कार्य की अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृत्तियों तथा संधियों के उचित प्रयोग-द्वारा इस तत्त्व के नियंत्रण की व्यवस्था की है

वस्तु-संविधान की दृष्टि से प्रसादजी के तीन नाटक—'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'—विशेष रूप से सफल हैं। इन नाटकों में भारतीय नाट्य-परंपराओं का यथा-विधि पालन किया गया है। संविधान सौष्ठव के लिए परिस्थिति-योजना का यथार्थ एवं प्रकृत रूप आवश्यक होता है। इसी के आधार पर कार्य की अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों में सामंजस्य स्थापित होता है और वस्तु-संविधान में सौंदर्य की सृष्टि होती है। प्रत्येक नाटकीय घटना में कार्य-कारण-संबंध रहना अपेक्षित है। इसके अभाव में घटना निष्प्राण तथा प्रभावहीन हो जाती है और उसका संबन्ध आधिकारिक अथवा प्रासंगिक कथा से छुट जाता है। प्रसादजी ने प्रायः अपने सभी नाटकों के वस्तु-संविधान में जीवन के मार्मिक स्थलों से परिस्थितियों का चयन किया है और उन्हें कार्य-कारण-संबन्ध द्वारा प्रभावोत्पादक और सफल बनाया है। वाह्य द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि में भी उनकी परिस्थितियाँ विशेष रूप से सहायक हुई हैं।

प्रसादजी के वस्तु-संविधान में कुछ खटकनेवाले दोष भी हैं। जहाँ परिस्थितियों का विस्तार वाह्य अथवा आन्तरिक द्वन्द्व के सफल निर्वाह के लिए किया गया है वहाँ तो नहीं; पर जहाँ कथा की प्रकृत धारा को रोककर अन्य प्रसंग उठा लिए गये हैं और फिर उन्हीं प्रसंगों को विस्तार दिया गया है वहाँ वस्तु-संविधान शिथिल हो गया है। इसी प्रकार स्वगत-कथन और सूच्य विषय भी आवश्यकता से अधिक बढ़कर कथा-प्रवाह में वाधक हो गये हैं। विस्तार-सम्बन्धी इन तीनों दोषों से उनका कोई नाटक मुक्त नहीं है। इन दोषों के कारण अंक और दृश्य के विभाजन में भी शिथिलता आयी है और वह उनका सफल निर्वाह नहीं कर सके हैं।

(३) **पात्र-योजना**—पात्र-योजना की दृष्टि से प्रसादजी के नाटक अपने में अत्यन्त महान् हैं। उसके अनुसार उनके नाटक दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) **नायक-प्रधान** और (२) **नायिका-प्रधान**। 'राज्यश्री' एवं 'ध्रुवस्वामिनी' **नायिका-प्रधान** और इनके अतिरिक्त शेष सभी **नायक-प्रधान** नाटक हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रसादजी ने अपनी पात्र-योजना में पुरुष और नारी—इन दोनों प्रकार के पात्रों को उचित महत्त्व दिया है। इससे उनके नाटकों में जीवन का एकांगी रूप ही नहीं, अपितु पुरुष और नारी की समस्याओं के सम्मिलित प्रभाव से जीवन का संपूर्ण रूप चित्रित हुआ है। चरित्र के विकास में प्रसादजी की यह देन बे-जोड़ है।

प्रसादजी की पात्र-योजना में **दूसरी** विशेषता यह है कि वह सोद्देश्य है। उनके प्रधान पात्र—चाहे वे पुरुष हों अथवा नारी—किसी-न-किसी उद्देश्य से प्रेरित हैं। समष्टि रूप से उनका उद्देश्य है—जीवन के संकुचित क्षेत्र से निकलकर जीवन के व्यापक क्षेत्र में आना और पतितों, निराशा के गर्त में गिरे हुए प्राणियों तथा पीड़ितों को उठाना और उन्हें विश्व-मंगलकारी आशावाद का संदेश देना। इस प्रकार उनके सभी प्रधान-पात्र आदर्शोन्मुखी हैं और वे किसी-न-किसी आदर्श की स्थापना करते हैं, पर ऐसे सभी आदर्श एक उद्देश्य-सूत्र में बँधे हुए हैं और हमें अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का परिचय देते हैं।

प्रसादजी के आदर्श पात्रों की एक **तीसरी** विशेषता यह भी है कि वे गूढ़ प्रकृति के हैं। सरल प्रकृति के पात्रों की जीवन-रेखा में अधिक वक्रता नहीं होती। उनकी जीवन-धारा एक क्रम से निर्दिष्ट मार्ग की ओर अग्रसर होती है। वे भीतर-बाहर प्रायः एक-से होते हैं। ऐसी दशा में उनके जीवन का अध्ययन सरल होता है। इसके विरुद्ध गूढ़ प्रकृति के व्यक्तियों की जीवन-रेखा अपेक्षाकृत वक्र और रहस्यमय होती है। उनके स्थूल-बाह्य और सूक्ष्म-अन्तर में बड़ा भेद रहता है। अपने भावों

और विचारों पर वे पूर्ण नियंत्रण रखते हैं और उन्हें तबतक गोपनीय रखते हैं जबतक वे उनके प्रकाशन की आवश्यकता नहीं समझते। ऐसे पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण जीवन के सबल तंतुओं से होता है और ऐसे ही पात्रों-द्वारा नाटकीय वस्तु में वाहय तथा आन्तरिक द्वन्द्व की स्थापना होती है। वे एक ओर जीवन की परिस्थितियों से जूझते हैं और दूसरी ओर अपने हृदय में उठनेवाली विरोधी भावनाओं से। इस प्रकार अपने को जीवन की संघर्षमय परिस्थितियों में डालकर वे अपने चरित्र का विकास करते हैं और जीवन के सुख-दुःख में एक-से रहते हैं। प्रसादजी के प्रधान पात्रों की यह विशेषता अद्वितीय है।

प्रसादजी के आदर्श-पात्रों में एक **चौथी** विशेषता है समन्वयवाद की। वे पृथ्वी और आकाश, लोक और परलोक, यथार्थ और आदर्श, हृदय और मस्तिष्क, भावुकता और विवेक, मनुष्यत्व और देवत्व, पाप और पुण्य तथा दुःख और सुख में सामंजस्य स्थापित करते चलते हैं। जीवन के एक ही पक्ष पर उनका ध्यान नहीं रहता। मनुष्यत्व में देवत्व की स्थापना करते समय वे अपने हृदय की दुर्बलताएँ ही नहीं भूलते, उन पर विजय पाने की सफल चेष्टा भी करते हैं। उनमें वाहय संघर्ष ही नहीं, आन्तरिक संघर्ष भी होता है। वे अपनी विषम परिस्थितियों से जूझते हैं, अपने मन की सत् और असत् प्रवृत्तियों से टक्कर लेते हैं और फिर आत्म-चिन्तन करते हुए कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं। एक ओर उन्हें पाशविक बरबरता को ध्वंस करने की आवश्यकता का आभास होता है तो दूसरी ओर उन्हें मन को संवेदनशील बनाये रखने की साधना करनी पड़ती है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से प्रसादजी के पात्र तीन प्रकार के हैं:—(१), देवता (२) राक्षस और (३) मनुष्य। गौतम, प्रेमानन्द, और वेदव्यास आदि देवता चरित्र हैं। वे संसार में रहते हुए भी संसार से तटस्थ हैं। वे अपने दार्शनिक विचारों से पतितों का उद्धार करते हैं। कश्यप, देवदत्त, शांतिभिक्षु आदि राक्षस-चरित्र हैं। इन चरित्रों में असत् की प्रधानता है। इन्हें उठाना ही देव-पात्रों का मुख्य लक्ष्य है।

मनुष्य में सत् और असत् दोनों प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। उसके हृदय से असत् निकालकर सत् की प्रतिष्ठा करना ही उसमें देवत्व की स्थापना करना है। देव-पात्रों के संसर्ग में आने पर उसमें इसी प्रकार की प्रवृत्ति का विकास होता है।

प्रसादजी के मानव-पात्रों की दो श्रेणियाँ हैं—(१) वर्गगत् और (२) व्यक्तिगत्। आदर्श-श्रेणी के सभी पात्र वर्गगत हैं। वे अपने गुणों-द्वारा एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। जीवन के यथार्थ क्षेत्र से आने पर भी वे आदर्श की स्थापना करते हैं। चन्द्रगुप्त, स्कन्द-गुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि सभी आदर्श पात्र हैं। इनके विरुद्ध कुछ ऐसे पात्र भी हैं जो अपनी व्यक्तिगत् विशेषताओं के आधार पर अपने चरित्र का विकास करते हैं। ऐसे पात्रों की तीन श्रेणियाँ हैं—एक श्रेणी उन पात्रों की है जो अपनी व्यक्तिगत् साधना-द्वारा प्रेम और त्याग की स्थापना करते हैं। उनमें आरम्भ से ही जीवन की उठान के लक्षण मिलते हैं। चाणक्य और देवसेना इसी प्रकार के पात्र हैं। दूसरी श्रेणी उन पात्रों की है जो आरंभ में आदर्श-विरोधी रहते हैं; पर आगे चल-कर आदर्शोन्मुखी हो जाते हैं। भटार्क, शर्वनाग, तक्षक आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। तीसरी श्रेणी उन पात्रों की है जो आरंभ से अन्त तक आदर्शों के प्रतिकूल आचरण करते हैं। नन्द, रामगुप्त, शकराज, विजया, देवगुप्त इसी प्रकार के पात्र हैं। आदर्शों का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही इन निकृष्ट पात्रों की सृष्टि की गयी है।

प्रसादजी के आदर्श पात्र ही उनके नाटकों के सर्वस्व हैं। वे अपने जीवन से लिपटी हुई घटनाओं के माध्यम से ही अपने चरित्र का विकास करते हैं। आधिकारिक कथा के साथ उनका विशेष सम्बन्ध रहता है। कथा के दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष आदर्श को पुष्ट करता है, दूसरा उसका विरोध करता है। आदर्श-पक्ष के नेता नायक होते हैं। वे अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार कई प्रकार के होते हैं। प्रसादजी के सभी नायक धीरोदात्त हैं। 'विशाख' के अतिरिक्त शेष सभी नाटकों

के नायक, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य, जनमेजय, गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त आदि भारत के सम्राट हैं। उनमें भारतीय परंपरा के अनुसार धीरोदात्त नायक के समस्त गुणों की प्रतिष्ठा हुई है। उनके विपक्षी अथवा विरोधी नेता **धीरोद्धात** नायक हैं। भटार्क, राक्षस, आंभी का रामगुप्त आदि ऐसे ही नायक हैं। धीरोदात्त पात्रों के चरित्र में उत्कर्ष की स्थापना इन्हीं पात्रों-द्वारा होती है। इन पात्रों के अतिरिक्त प्रासंगिक कथा के भी नायक होते हैं जो **पताका-नायक** कहलाते हैं। ऐसे नायकों का व्यक्तित्व प्रधान नायक के व्यक्तित्व से भिन्न नहीं होता। वे अपने व्यक्तित्व को प्रधान नायक के व्यक्तित्व में विलीन कर देते हैं और उनको लक्ष्य-प्राप्ति में बराबर सहयोग देते रहते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में मालव-राजकुमार सिंहरण तथा 'स्कन्दगुप्त' में उज्जयिनी-नरेश बन्धुवर्मा इसी प्रकार के नायक हैं। वे कुलीन, त्यागी, वीर, धीर और उदात्त प्रकृति के व्यक्ति हैं और आरंभ से अन्त तक प्रधान नायक के सहायक बने रहते हैं।

पुरुष-पात्र-योजना के समान ही प्रसादजी की नारी-पात्र-योजना भी अपनी विशेषताओं के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनके पुरुष-पात्रों में बुद्धि का वैशिष्ट्य है और नारी-पात्रों में हृदय की प्रधानता। नारी-हृदय की प्रवृत्तियाँ दो विभिन्न कोटि की होती हैं—(१) **सतोगुण-मूलक** और (२) **वासना-मूलक**। राज्यश्री, मल्लिका, देवसेना, देवकी, वपुष्टमा, कार्नेलिया आदि में सतोगुण-मूलक प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करुणा, वात्सल्य, सहानुभूति, प्रेम, उदारता, त्याग आदि उदात्त प्रवृत्तियों का परिचय देती हैं। उनकी वाणी में ही नहीं, उनके कार्य-कलापों में भी सात्त्विकता है। वे अपना कर्तव्य समझती हैं और अपने उत्तरदायित्व का सफल निर्वाह करती हैं। उनमें आत्मसम्मान का भाव है, अपने प्रेम को संयत और संतुलित करने की क्षमता है और अपने सतीत्व की रक्षा करने की शक्ति है। वे कोमल ही नहीं, कठोर भी हैं। जातीय गौरव, राष्ट्र-प्रेम

और विश्व-कल्याण की पूत भावनाओं से उनका हृदय भरा हुआ है। इनके विरुद्ध ऐसी भी नारियाँ हैं जो वासना और वैभव को ही अपने जीवन का सर्वस्व मान बैठी हैं। सुरमा, विजया, दामिनी, मागन्धी, अनन्तदेवी आदि ऐसी ही नारियाँ हैं। ऐसी नारियों के चरित्रांकन से जहां उनकी वासना-मूलक प्रवृत्तियों का आभास मिलता है वहाँ उससे सात्विक प्रवृत्ति की नारियों के चरित्रांकन में विशेष सहायता मिलती है।

प्रसादजी ने अपने नाटकों में हास-परिहास को भी स्थान दिया है और उसके द्वारा चरित्रांकन किया है। भारतीय परंपरा के अनुसार विदूषक हास्य का प्रतिनिधि होता है। 'अजातशत्रु' में वसंतक और 'स्कन्दगुप्त' में मुद्‌गल ऐसे ही पात्र हैं। इन विदूषकों की सृष्टि में संस्कृत-नाट्य-परंपरा का ही पालन किया गया है। इसके विरुद्ध कई पात्रों-द्वारा भी हास्य की सृष्टि का विधान उनके नाटकों में मिलता है। महापिंगल, विकट-घोष, कश्यप आदि ऐसे ही पात्र हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी की पात्र-योजना अत्यन्त मौलिक और सफल है। चरित्रांकन की दृष्टि से भी उन्हें सर्वत्र सफलता मिली है। उनके चरित्रांकन के दो माध्यम हैं—(१) राजनीति और (२) प्रेम। राजनीति के माध्यम से जिन नाटकों में पात्रों का चरित्रांकन किया गया है, उनमें 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' 'राज्यश्री', आदि प्रमुख हैं। इनमें इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों का चित्रण होने के कारण तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का निदर्शन प्रमुख रूप से हुआ है। इनमें राजनीति-मूलक संघर्ष है और वीर रस के अन्तर्गत, शृंगार रस की उद्‌भावना की गयी है। 'विशाख' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रेम-मूलक संघर्ष है। इन्हें हम उनके विशुद्ध 'रोमांटिक' नाटक कह सकते हैं। राजनीति-मूलक संघर्ष में देश-प्रेम, जाति-प्रेम, विश्व-प्रेम, मानव-प्रेम, आत्मोत्सर्ग, त्याग, क्षमा आदि उदार प्रवृत्तियों का चित्रांकन हुआ है। प्रेम-मूलक

संघर्ष में नारी-हृदय की सात्विक और विलासपूर्ण प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। प्रसादजी के नाटकों में इन समस्त प्रवृत्तियों का चित्रांकन संवाद अथवा कार्य-व्यापार-द्वारा होता है।

प्रसादजी का चरित्र-चित्रण स्वच्छन्दवादी श्रेणी का है। इस श्रेणी के चरित्र-चित्रण में नाटककार ऐसे असाधारण पात्रों को लेकर चलता है जिनके विचार, भाव और रुचि इत्यादि साधारण मनुष्यों के भाव विचार और रुचि से बहुत भिन्न होते हैं। प्रसादजी के सभी पात्र असाधारण गुणों से सम्पन्न हैं। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, राज्यश्री, स्कन्दगुप्त, जन्मेजय, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी आदि पात्रों में जिन गुणों की प्रतिष्ठा हुई है वे गुण अन्य राजाओं, मंत्रियों और महारानियों आदि में नहीं मिलते। ऐसे चरित्र-चित्रण में एक महत्त्वपूर्ण बात और होती है और वह यह कि उसके अन्तर्गत पात्रों में आकस्मिक परिवर्तन दिखाया जाता है। प्रसादजी ने अपने चरित्र-चित्रण में इस कला का भी उपयोग किया है। उनके दुष्ट पात्रों के चरित्र में आकस्मिक और अप्रत्याशित परिवर्तन हुआ है। 'राज्यश्री' में दस्यु भिक्षु बन जाता है और अजातशत्रु की मागधी भगवान बुद्ध के उपदेश से आम्रपाली के रूप में मनुष्य-मात्र की सेविका बन जाती है। ऐसे परिवर्तन अस्वाभाविक होते हुए भी नाटकीय कला के अन्तर्गत स्वाभाविक हो जाते हैं और दर्शकों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं।

[४] **संवाद-योजना**—संवाद के मुख्यतः दो प्रयोजन हैं—(१) **कथा-वस्तु में गति उत्पन्न करना और (२) चरित्र-चित्रण में योग देना।** प्रसादजी ने अपनी संवाद-योजना में इन दोनों प्रयोजनों से पूरा लाभ उठाया है। उनके संवाद विषय-संगत, सुगुँफित, सारगर्भित, भावपूर्ण, व्यावहारिक, संयत और शिष्ट हैं। नाटकीय संवाद और औपन्यासिक संवाद में विशेष अन्तर होता है। जहाँ उपन्यासकार अपने संवाद को विस्तार देता है और अपने व्यक्तित्व की उस पर छाप लगाता चलता है, वहाँ नाटककार को अपना व्यक्तित्व अप्रत्यक्ष रख-

कर एक उचित सीमा के भीतर आवश्यकता के अनुसार कभी संकोच और कभी विस्तार के साथ शिष्ट और संयत वाक्यों में सब कुछ कहना पड़ता है। इसलिए उसमें उत्सुकता और जिज्ञासा की मात्रा अधिक रहती है। प्रसादजी के संवादों में उत्सुकता और जिज्ञासा भरी रहती है। विषय की प्रकृति के अनुसार वे कहीं वेगयुक्त हैं, कहीं मन्दगामी। वीर रस से संबद्ध संवाद आवेश और उत्कर्ष से भरे हुए हैं। इसी प्रकार प्रेम के प्रसंग में आए हुए संवादों में भावुकता और जीवन का माधुर्य है। शुद्ध व्यावहारिक संवाद भी सजीव और स्वाभाविक हैं।

प्रकृति के अनुसार संवाद दो प्रकार के होते हैं—(१) **कार्य-गति-प्रेरक** और (२) **कार्य-गति-रोधक**। कार्य-गति-प्रेरक संवाद विषय और परिस्थितियों की गतिशीलता के द्योतक होते हैं। उससे भूत और वर्तमान की घटनाओं के अतिरिक्त निकट भविष्य में घटनेवाली बातों का भी धूमिल आभास मिल जाता है। उससे नये-नये भाव, नई-नई बातें, कार्य के नये-नये रूप और उनके परिणाम सामने आते हैं और सामाजिकों में कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के संवादों का अभाव नाटक की सफलता में बाधक होता है। प्रसादजी के संवादों में पर्याप्त कार्य-गति-प्रेरक-शक्ति है। उन्होंने अपने इतिवृत्ति का प्रसार ऐसे ही संवादों के आधार पर किया है। इनके विरुद्ध ऐसे भी संवाद मिलते हैं जिनसे कार्य-गति में कोई सहायता नहीं मिलती। इस प्रकार के संवाद ऐसे अवसरों पर आये हैं जहाँ पात्र या तो तर्क-वितर्क में पड़ गये हैं या उपदेश आदि देने लगते हैं। एक उचित सीमा के भीतर इस प्रकार के संवाद क्षंतव्य हैं, परन्तु जब इनका अनावश्यक विस्तार होने लगता है तब ये अपना महत्त्व खो बैठते हैं। प्रसादजी के ऐसे संवाद विस्तार के भार से अरोचक और असंगत हो गये हैं। उनके कुछ पात्र इतने अधिक वाद-विवाद-प्रिय हैं कि वे नाटक की सीमा का सर्वथा उल्लंघन ही करते रहते हैं। कुछ अन्य पात्र स्वगत-कथन के रोग से पीड़ित हैं। उनके स्वगत-कथन इतने लंबे, अनावश्यक

और अस्वाभाविक हैं कि उनसे न तो इतिवृत्ति के प्रसार में सहायता मिलती है और न चरित्र-चित्रण में।

शैली की दृष्टि से संवाद दो प्रकार के होते हैं—(१) **गद्यात्मक** और (२) **पद्यात्मक**। भारतीय नाट्य-परंपरा में पद्यात्मक संवाद मिलते हैं, पर वे अस्वाभाविक नहीं जान पड़ते। प्रसाद जी ने अपने प्रारंभिक नाटकों में गद्यात्मक संवादों के साथ-साथ पद्यात्मक संवादों की भी योजना की है। कहीं-कहीं तो उनसे इतिवृत्त को शक्ति मिली है, पर जहाँ उनकी अधिकता है वहाँ संपूर्ण नाटकीय वातावरण अस्वाभाविक हो गया है। संवाद के रूप में कविता सर्वथा असंगत और स्वभाव-विरुद्ध है। नाटक में ऐसे संवादों को स्थान ही नहीं मिलना चाहिए। ऐसा लगता है कि प्रसादजी ने पारसी रंगमंच से प्रभावित हो कर पद्यात्मक संवादों की रचना की, पर जब उन्हें उनकी अस्वाभाविकता का ज्ञान हुआ तब उन्होंने उस शैली का परित्याग किया। इससे उनके अन्त के नाटक अस्वाभाविक होने से बच गये।

संवाद-योजना का एक तत्त्व भाषा भी है। संवाद की भाषा कैसी होनी चाहिए—इस सम्बन्ध में सब नाटककारों का एक मत नहीं है। देश, काल और पात्र की योग्यता के अनुसार संवाद का होना आवश्यक है, पर यदि आज के रंगमंच पर प्राचीन काल के देशी-विदेशी पात्र अपनी-अपनी भाषा का प्रयोग करने लगें तो सामाजिक उठकर चले जायँगे। इसलिए जब चाणक्य, चन्द्रगुप्त, महात्मा बुद्ध और सेल्यूकस हिंदी में बोल सकते हैं तो सबको योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार एक ही भाषा का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि भाषा सरल, भाव-व्यंजक, चुस्त और प्रभावपूर्ण हो। इस दृष्टि से प्रसादजी के संवादों में भाषा-सम्बन्धी समस्त विशेषताओं के होते हुए भी एक दोष है और वह यह कि उनकी अधिकांश भाषा क्लिष्ट, काव्यमय और कहीं-कहीं रहस्यमय हो गयी है। ऐसी भाषा का आनन्द साहित्यिक तो उठा सकते हैं, पर साधारण योग्यता के लोग नहीं उठा सकते।

[५] देश-काल-योजना—देश-काल के चित्रण की दो शैलियाँ होती हैं—(१) व्यक्त और (२) प्रच्छन्न। प्रसादजी ने आवश्यकतानुसार देश-काल के चित्रण में इन दोनों शैलियों से काम लिया है। अपने नाटकों में उन्होंने कहीं तत्कालीन घटनाओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है और कहीं उनका आभास-मात्र दे दिया है।

प्रसादजी के नाटकों पर देश-काल की स्पष्ट छाप है। उन्होंने अपने नाटकों में इतिहास की पूरी तरह रक्षा की हैं। भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग से अपने कथानकों की सामग्री एकत्र करने के कारण उन्होंने उस युग की सांस्कृतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थियों एवं प्रवृत्तियों का यथाविधि चित्रण किया है। उनके समस्त पात्र राजवर्गीय हैं। राज-दरबारों में अच्छे-बुरे जैसे पात्र होते हैं वैसे ही उनके नाटकों में भी मिलते हैं। ऐसे सभी पात्रों का निर्माण युग की परिस्थितियों के अनुकूल है। वे अपने युग से बाहर नहीं जाते। उनके आचार-विचार, उनकी रहन-सहन, उनकी वेश-भूषा, उनके आदर्श और यथार्थ पर उस युग की स्पष्ट छाप है। युद्ध, विद्रोह, क्रान्ति, षड्यंत्र, दुरभिसंधि, भेद-भाव तथा इसी प्रकार की अन्य राजनीतिक प्रवृत्तियाँ उनके नाटकों में ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं। इन राजनीतिक प्रवृत्तियों पर तत्कालीन बुद्ध-धर्म का प्रभाव भी प्रच्छन्न रूप से अंकित किया गया है। मौर्य-काल में यूनानियों के आक्रमण से तत्कालीन भारत की राजनीति में जो हेर-फेर हुए हैं उनका स्पष्ट चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है। इसी प्रकार गुप्त-काल में शकों और हूणों के आक्रमणों तथा कौटुम्बिक विद्रोहों के कारण भारतीय जन-जीवन में जो दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी उसका भी परिचय हमें मिलता है। इसी के साथ जब हर्षवर्धन का काल जोड़ दिया जाता तब भारतीय इतिहास के उस युग की पूरी झाँकी उतर आती है और हम उसमें अपनी खोयी हुई शक्ति पा सकते हैं।

प्रसादजी ने देश-काल के अनुरूप धार्मिक स्थितियों का भी स्पष्ट

चित्र अंकित किया है। जनमेजय के समय से हर्षवर्धन तक भारत की धार्मिक भावनाओं में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। महाभारत-काल में जिन ब्राह्मणों के हाथ में जन-जीवन का धार्मिक सूत्र था उनका जनमेजय के समय में इतना पतन हुआ कि कालान्तर में वे धार्मिक नेता न रह सके। उनके पतन के साथ ही वैदिक धर्म का भी पतन हो गया और उसके स्थान पर बौद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। इस धर्म ने सपूर्ण भारत की जीवन-धारा को विशेष रूप से प्रभावित किया। उसने वैदिक धर्म का ही स्थान नहीं लिया, भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं को भी प्रभावित किया। अजातशत्रु के समय में बुद्ध-धर्म का पूर्ण प्रभाव था। मौर्य-काल में उसका ह्रास और वैदिक धर्म का पुनः अभ्युदय हुआ और गुप्त-काल में वह चमक उठा। इन दोनों धर्मों के उत्थान और पतन की स्पष्ट रेखाएँ प्रसादजी के नाटकों में देखी जा सकती हैं। उनसे यह समझ में आ जाता है कि उस युग में धर्म ने राजनीति को और राजनीति ने धर्म को कितना और कहाँ तक प्रभावित किया था। वास्तव में कौरव-पांडव-युद्ध के पश्चात् से हर्षवर्धन के समय तक इतिहास वैदिक धर्म, जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म का ही इतिहास है और इन्हीं तीनों धर्मों के संघर्ष में भारतीय राजनीति का उत्थान-पतन हुआ है।

राजनीतिक और धार्मिक उत्थान-पतन का जो प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ता है वह भी प्रसादजी के नाटकों में देखा जा सकता है। धर्म के प्रति राजा से रंक तक की आस्था उस युग की एक विशेषता है। इसके अतिरिक्त समाज में स्त्रियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिखायी देता है। राज-परिवार में वे राजा का सब तरह से हाथ बँटाती है, राजनीति में भाग लेती है, धार्मिक संस्कारों के अवसर पर उपस्थित रहती हैं, युद्ध-क्षेत्र में जाती हैं और आवश्यकता पड़ने पर पुरुष-वेश भी धारण करती हैं। राज्यश्री, वपुष्टमा, अलका, ध्रुवस्वामिनी, जयमाला आदि नारियाँ अपने युग के अनुकूल जो आदर्श हमारे सामने रखती हैं उनसे

हम आज भी द्रवीभूत हो जाते हैं। इसके साथ ही तत्कालीन समाज का ब्राह्मणों के प्रति जो आदर-भाव था वह भी व्यक्त होता है। ब्राह्मणों के आचार-विचार, उनकी रहन-सहन, उनकी वेश-भूषा, उनका पाडित्य, राजनीति में उनका सहयोग आदि ऐसी बातें हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शिक्षा-दीक्षा और अध्ययन-अध्यापन के केन्द्रों की सुव्यवस्था तथा मनोरंजन के साधनों का भी स्पष्ट चित्र हमें उस युग के सामाजिक जीवन से मिलता है। साहित्य की उन्नति भी उस युग की एक विशेषता है। चाणक्य, जीवक, राक्षस आदि साहित्य-प्रेमियों को स्थान देकर प्रसादजी ने अपने नाटकों को उस युग का यथार्थ रूप से प्रतिनिधित्व किया है।

[६] **रस-योजना**—प्रसादजी की रस-योजना भारतीय परंपरा के अनुकूल है। भारतीय रस-सिद्धान्त के अनुसार साधारणीकरण का नियम उनके समस्त नाटकों में पाया जाता है। इसके साथ ही कार्य-व्यापार तथा संघर्ष की दृष्टि से पाश्चात्य सिद्धान्त का भी समर्थन हो जाता है। उनके नाटकों के अन्तर्द्वन्द्व 'व्यक्ति-वैचित्र्य' के नियम पर नितान्त खरे उतरते हैं।

हम पहले बता चुके हैं कि प्रसादजी के नाटकों में वीर-रस प्रधान और शृंगार-रस सहायक है। उन्होंने इन दोनों रसों के अवयवों का निर्वाह बड़ी सफलतापूर्वक किया है। आलंबन-विभाव के चित्रण में उनका विशेष कौशल दिखायी देता है। उन्हीं के अनुरूप अनुभाव और संचारियों की भी योजना की गयी है। उद्दीपन भी आवलंबन के साथ-साथ चलता है। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी रस-योजना की दृष्टि से अत्यन्त सफल रचनाएँ हैं।

वीर तथा शृंगार रसों के अतिरिक्त शांत, वीभत्स और भयानक रसों के उदाहरण भी प्रसादजी के नाटकों में मिलते हैं। चाणक्य के पक्ष में शांत रस का अच्छा विकास हुआ है। 'स्कंदगुप्त' के कापालिक-प्रकरण में वीभत्स रस और हूणों की बर्बरता के वर्णन में भयानक रस के उदाहरण

मिलते हैं। यत्र-तत्र हास्य रस की भी अच्छी सृष्टि हुई है। इसके लिए उन्होंने कहीं विदूषक से काम लिया है और कहीं कई पात्रों को एक साथ परिहास-प्रिय बना दिया है। हास्य की सृष्टि से उनके नाटकों की गंभीरता नष्ट नहीं हुई है, उसमें गति अवश्य आयी है। उनके हास्य की यही विशेषता है। उनका हास्य शिष्ट हास्य है। वह हमें खिल-खिलाकर हँसने का अवसर नहीं देता, हमें गुदगुदाकर छोड़ देता है।

[७] **संगीत-योजना**—प्रसादजी ने अपने नाटकों में संगीत की भी योजना की है। संगीत में गायन, वादन और नृत्य तीनों का सन्निवेश रहता है। प्रसादजी जिस युग के चित्रकार हैं उस युग में संगीत-कला भी अपने उत्कर्षपर थी, इसलिए उनकी संगीत-योजना युग के अनुकूल ही कही जायगी, परन्तु इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर यह भी मानना होगा कि उसकी भरमार नाटक में नहीं होनी चाहिए। प्रसादजी ने अपने नाटकों में संगीत की इतनी विस्तृत योजना की है कि उसका महत्त्व ही नष्ट हो गया है। 'स्कंदगुप्त' में देवसेना और 'अजातशत्रु' में मागंधी एक दो बार नहीं, सात-सात बार गाती हैं और फिर लम्बे-लम्बे गाने गाती है। कहीं-कहीं नेपथ्य से भी लम्बे गाने गवाये गये हैं। ऐसे गानों की योजना नितान्त अस्वाभाविक है। अवसर और आवश्य-कता के अनुकूल उचित पात्रों-द्वारा उचित मात्रा में जहाँ संगीत का आयोजन हुआ है वहाँ प्रसादजी को विशेष सफलता मिली है।

(८) **अभिनय-योजना**—अभिनय की दृष्टि से प्रसादजी के नाटक दोषपूर्ण हैं। कथोपकथन का विस्तार, गीतों की भरमार तथा काव्य-तत्त्व के भार से नाटकों का आकार-प्रकार इतना बढ़ गया है कि उन्हें खेलने के लिए अधिक समय और श्रम की आवश्यकता होती है। रंगमंच की दृष्टि से भी उनमें दोष है। अंकों और दृश्यों का विभाजन ठीक न होने से रंगमंच की व्यवस्था में बड़ी बाधाएँ मिलती हैं। इन दोषों को हटाकर उनके कई नाटकों का सफल अभिनय किया गया है।

वस्तुतः प्रसादजी उस कोटि के नाटककार नहीं थे जो नाटक-मंडलियों

लिए नाटक लिखते हैं। वह साहित्यिक नाटककार थे। साहित्यिक नाटककार जब नाटक लिखने बैठता है तब उसके सामने नाट्य साहित्य की परंपराएँ और मानव-हृदय के अन्तर्द्वन्द्व होते हैं। उस समय वह रंगमंच की चिन्ता नहीं करता वह चिन्ता करता है अन्तर्द्वन्द्व के अग-व्यक्तीकरण की। यदि वह रंगमंच की चिन्ता करने लगे तो उसकी नाट्य-कला का विकास ही अवरुद्ध हो जाय। प्रसादजी इसी कोटि के नाटककार थे और उन्होंने अपने ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर रंगमंच की विशेष चिन्ता नहीं की। वह कर भी नहीं सकते थे। उनके पास अध्ययन की इतनी प्रचुर सामग्री, दार्शनिक विचारों का इतना आग्रह और कल्पनाओं एवं अनूभूतियों का इतना अनुरोध था कि उसने उन्हें अपने में निमग्न कर लिया था। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके नाटकों में रंगमंचीय विशेषताएँ हैं ही नहीं। उनके सभी नाटकों में कार्य-व्यापार का वेग है और उनके प्रथम तथा अन्तिम दृश्य अत्यन्त रोचक हैं। इसी प्रकार उनके बीच के कई दृश्य रंगमंच को प्रभावशाली बना सकते हैं। शृंगार और वीर रस-पूर्ण संवाद तो प्राय: सभी नाटकों में मिलते हैं। अभिनय की दृष्टि से उनकी 'ध्रुवस्वामिनी' अत्यन्त सफल रचना है। उनके अन्य नाटक भी अभिनीत हो चुके हैं जिनमें उनकी वस्तु-योजना, उनकी पात्र-योजना, उनकी संवाद-योजना, उनकी रस-योजना तथा इसी प्रकार की उनकी अन्य योजनाएँ हिन्दी-नाट्य साहित्य को उनकी अमूल्य देन हैं।

अबतक हमने प्रसादजी की नाट्य-कला तथा उनकी नाट्य-साधना के संबन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं उनसे स्पष्ट है कि वह अपने नाटकों में सर्वथा नवीन नहीं हैं। उनका युग नाटक में किसी नितांत नवीन प्रणाली का उपासक नहीं था। वह ऐसे युग में उत्पन्न हुए थे जब हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु और उनकी नाट्य-परम्परा का अनुकरण करनेवाले कतिपय अन्य नाटककारों की रचनाएँ ही उपलब्ध थीं। बंगला

प्रसादजी की समन्वय-साधना

साहित्य में अधिक नाटक लिखे जा चुके थे और उनमें से अधिकांश के हिन्दी में अनुवाद भी हो चुके थे, पर उनमें भी किसी विशुद्ध नूतन प्रणाली का प्रयोग नहीं किया गया था। शेक्सपियर के नाटकों में जो नूतनता थी, वह भी पाश्चात्य नाट्य-परंपरा से पूर्णतया प्रभावित थी। पारसी कंपनियों के रंगमंचों से जिन नाटकों का प्रदर्शन हो रहा था उनमें भी किसी नूतन नाट्य-प्रणाली का अनुसरण नहीं किया गया था। ऐसी दशा में प्रसादजी ने भी किसी विशुद्ध नाट्य-प्रणाली की सृष्टि नहीं की। उनके युग में जितनी नाट्य-प्रणालियाँ थीं, उन सबके समन्वय से उन्होंने अपनी एक नाट्य-प्रणाली निश्चित की और उसी के आधार पर उन्होंने अपने नाटकों का भव्य भवन खड़ा किया।

प्रसादजी ने अपनी समन्वय-साधना में भारतीय नाट्य-परंपरा को ही प्रमुख स्थान दिया। वस्तु, नायक और रस—नाटक के इन्हीं तीनों तत्त्वों को उन्होंने अपनाया और इन्हीं के द्वारा हमें भारतीय आत्मा का दिग्दर्शन कराया। कार्य की पाँच अवस्थाओं—आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—तक ही उनकी दृष्टि सीमित नहीं रही, अपितु इन अवस्थाओं के अनुकूल उन्होंने अर्थ-प्रकृतियों—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य तथा संधियों—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण को भी स्थान दिया। इस प्रकार उन्होंने अपने वस्तु-संगठन में भारतीय नाट्य-परंपराओं की पूर्ण रक्षा की। नायक की दृष्टि से भी उनके नाटक अद्वितीय सिद्ध हुए। संस्कृत नाट्य-परंपरा के अनुसार नायकों में जिन गुणों और विशेषताओं की प्रतिष्ठा होनी चाहिए उन गुणों और विशेषताओं से उनके सभी नायक जो प्रायः धीरोदात्त हैं, परिपूर्ण हैं। नायक की भाँति नायिकाएँ भी भारतीय नाट्य-परंपरा के अनुकूल हैं। रस-योजना की दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि उन्होंने इस दिशा में भी भारतीय परंपरा का ही पालन किया है। उन्होंने अपने नाटकों में मुख्यतः वीर और शृंगार रसों को ही स्थान दिया है और उनकी निष्पत्ति के लिए उक्त रसों के संपूर्ण अवयवों का सहारा

लिया है। इस प्रकार भारतीय परंपरा की दृष्टि से वह अपने नाटकों में अत्यन्त प्राचीन हैं।

भातीय परंपरा का मुख्यतः समर्थन करते हुए भी उन्होंने पाश्चात्य नाट्य-परंपरा की उपेक्षा नहीं की है। पाश्चत्य-परंपरा के अन्तर्गत वह शेक्सपियर की नाट्य-कला से अत्यधिक प्रभावित हैं। शेक्सपियर के नाटकों में संघर्ष, सक्रियता और समष्टि-प्रभाव स्थापन की जो प्रवृत्ति है वह प्रसादजी के प्रत्येक नाटक में देखी जा सकती है। देवसेना, चाणक्य, स्कन्दगुप्त आदि पात्रों की सृष्टि-द्वारा व्यक्ति-वैचित्र्य के सिद्धान्त की भी रक्षा की गयी है। अनेक नाटकों में विरोधी पक्ष-द्वारा केवल बाह्य द्वन्द्व ही नहीं, आन्तरिक द्वन्द्व भी उपस्थित किया गया है। उनके पात्र अपनी परिस्थितियों से जूझने के साथ-साथ अपने मन के सत् और असत्—दोनों से चोट लेते हैं। इन नाटकीय तत्त्वों के साथ-साथ देश-काल के वर्णन में भी उन्होंने पाश्चात्य कला का ही समर्थन किया है। पाश्चात्य नाट्य-परंपरा के अनुसार नाटक का सोद्देश्य होना आवश्यक है। प्रसादजी का प्रत्येक नाटक सोद्देश्य है। उसका आरम्भ जितना चटकीला है, उतना ही उसका अन्त चमत्कारपूर्ण और शिक्षाप्रद। प्रसादजी के प्रत्येक नाटक से जीवन के उठान की कोई-न-कोई शिक्षा अवश्य मिलती है।

आधुनिक नाट्य-कला की दृष्टि से प्रसादजी ने बंगला-नाटकों से लंबे-लंबे स्वगत कथन और लम्बे-लम्बे संवाद, पारसी रंगमंचों से पद्यात्मक संवाद और गीत तथा भारतेन्दु नाट्य-कला से अंकों और दृश्यों का विभाजन लिया है और इन्हीं क्षेत्रों में वह प्रायः विफल रहे हैं। उनका 'ध्रुवस्वामिनी' ही एक ऐसा नाटक है जो इन दोषों से प्रायः मुक्त है और इसीलिए अभिनय की दृष्टि से वह एक सफल रचना है।

उपर्युक्त नाटकीय परंपराओं के समन्वय के साथ-साथ प्रतिपादित विषय के क्षेत्र में भी प्रसादजी की समन्वय-साधना के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उनके प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। इतिहास में घटनाओं का क्रमानुसार वर्णन होता है और साहित्य उन घटनाओं की व्याख्या

करता है। प्रसादजी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और साहित्य का समन्वय किया है। उन्होंने अपनी प्रतिभा और अपने युग की आवश्यकतानुसार इतिहास की मौलिक घटनाओं की व्याख्या की है। इस प्रकार उनके नाटकों में इतिहास और साहित्य का ही समन्वय नहीं हुआ है, प्राचीन और वर्तमान का भी समन्वय हुआ है। उनके पात्र अपने युग की ऐतिहासिक घटनाओं का प्रतिनिधित्व करने के साथ-साथ वर्तमान युग की राष्ट्रीय भावनाओं को भी पुष्ट करते हैं। चन्द्रगुप्त, देवसेना, अलका, स्कन्दगुप्त आदि पात्र देश-प्रेम से भरे हुए हैं। उनके नाटकों में बौद्ध और वैदिक धर्मों की ओट में हिन्दू-मुसलिम समस्या का भी सफल चित्रण हुआ है। इसी प्रकार बुद्धजी की अहिंसा, प्रेम और त्याग की भावनाओं के अन्तर्गत युग-पुरुष महात्मा गांधी की अहिंसा-प्रेम और त्याग की भावनाओं का स्पष्टीकरण हो जाता है। 'ध्रुव-स्वामिनी' में जो पुनर्विवाह और नारी-समस्या खड़ी हुई है वह भी वर्तमान युग से संबन्धित है।

स्पष्ट है कि नाट्य-कला और विषय प्रतिपादन—इन दोनों दृष्टियों से प्रसादजी अपनी समन्वय-साधना में अत्यन्त सफल हैं। उनके नाटकों में प्राचीन और नवीन का, पौर्वात्य और पाश्चात्य का, इतिहास और साहित्य का, कथा और कल्पना का, जीवन और कला का, यथार्थ और आदर्श का, लोक और परलोक का, मनुष्यत्व और देवत्व का, नियति और कर्म का सुन्दर समन्वय हुआ है और इसी समन्वय में उनकी प्रतिभा और उनकी कला को विकसित होने का अवसर मिला है।

प्रसादजी की नाटकीय प्रवृत्तियाँ

हम बता चुके हैं कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्रसादजी नव-जागरण के अग्रदूत थे। उनका युग संघर्ष का युग था। संस्कृति, राज-नीति और साहित्य—इन तीनों क्षेत्रों में संघर्ष का ही उद्घोष सुनायी पड़ता था। सांस्कृतिक क्षेत्र में पौर्वात्य और पाश्चात्य आदर्शों के बीच, राजनीतिक क्षेत्र में शासक और शासित के बीच तथा साहित्यिक क्षेत्र में प्राचीन और नवीन के बीच इतनी खींच-तान थी कि भारतीयों के पैर

उखड़ रहे थे। ऐसे संघर्षपूर्ण वातावरण में संस्कृति, राष्ट्रीयता तथा साहित्य का रूप क्या होना चाहिए ?—इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर जिन तत्कालीन साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट हुआ उनमें प्रसादजी का भी स्थान था। प्रसादजी ने अपने युग की समस्त प्रवृत्तियों का आकलन किया और अपनी प्रतिभा के बल से उनका नेतृत्व किया। उनके नाटकों में हमें निम्न प्रवृत्तियाँ देखने को मिल सकती हैं :—

(१) **सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ**—प्रसादजी आर्य-संस्कृति के खरे उपासक थे। उनके समय में उस संस्कृति की जैसी उपेक्षा हो रही थी वह उनके लिए असहनीय थी। इसलिए उन्होंने उसके उद्धार का व्रत लिया। उन्होंने प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन किया और उनमें से ऐसी मूल प्रवृत्तियाँ खोज निकालीं जो आर्य-संस्कृति की जननी कही जा सकती है। इन्हीं मूल प्रवृत्तियों के आधार पर उन्होंने अपने नाटकों की रचना की और उनके द्वारा लोगों को आर्य-संस्कृति का पावन संदेश सुनाया। वह सन्देश था प्रेम का, त्याग का, करुणा का क्षमा का, अहिंसा का, विश्व-बंधुत्व और मानव-कल्याण का। प्रसादजी का कोई नाटक आर्य-संस्कृति की इन मूल प्रवृत्तियों से शून्य नहीं है। 'कामना' में आर्य-संस्कृति का सजीव चित्रण हुआ है। उनके अन्य नाटकों में भी मानवता का भव्य रूप ही अंकित हुआ है। गौतमबुद्ध दाण्डायन, वेदव्यास आदि आर्य-संस्कृति का वही महान् सन्देश हमारे सामने उपस्थित करते हैं जिसे हमारे युग-द्रष्टा ऋषि-मुनि युग-युग से देते आ रहे हैं। इस प्रकार उनके नाटकों में आर्य-संस्कृति की भरपूर रक्षा हुई है।

[२] **ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ**—आर्य-संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना है जो उसका 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। इस स्वर्ण युग का विस्तृत इतिहास पाँच कालों में विभाजित किया जा सकता है—(१) उत्तर वैदिक काल, (२) बौद्ध-काल, (३) मौर्य-काल, (४) गुप्त-काल और (५) हर्ष-काल। प्रसादजी ने

इनमें से प्रत्येक काल को अपनाया है और उसे अपने प्रतिभा से चमकाने की चेष्टा की है। उत्तर वैदिक काल महाभारत-युद्ध के बाद का काल है और जनमेजय इस काल का प्रतिनिधित्व करता है। उस समय की समस्त ऐतिहासिक प्रवृत्तियाँ 'जनमेजय के नाग-यज्ञ' में सुरक्षित हैं। इसी प्रकार 'आजातशत्रु' बौद्ध-काल की, 'चन्द्रगुप्त' मौर्य-काल की, 'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' गुप्त-काल की तथा 'राज्यश्री' हर्ष-काल की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का चित्रण करते हैं। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र बता चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रसादजी ने ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का चित्रण ही नहीं किया है, अपितु उस ऐतिहासिक सत्य की रक्षा भी की है जिसे विदेशियों ने विकृत कर दिया था।

[३] **राष्ट्रीय प्रवृत्तियां**—अपने समय की पुकार के अनुसार प्रसादजी ने जिस ऐतिहासिक इतिवृत्त को चुना उसमें उन्होंने आर्य-संस्कृति की प्रतिष्ठा करने के साथ-साथ राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का अंकन भी बड़ी सफलतापूर्वक किया। इस दिशा में भारतेन्दु उनके अगुआ थे। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में कर-विरोध-द्वारा ही राष्ट्रीय भावना को उत्तेजित किया था। प्रसादजी उससे आगे बढ़े। वह आगे बढ़ने का युग भी था। उन्होंने अपने युग की राष्ट्रीय भावना को आर्य-संस्कृति की दृढ़ भूमि पर लाकर खड़ा किया और वीर रस-द्वारा जन-जीवन के हृदय में उसका मंत्र फूँका। यूनानी, शक और हूणों के आक्रमणों के कारण उस समय सम्पूर्ण उत्तर भारत में जो राजनीतिक स्थिति उत्पन्न हो गयी थी उस स्थिति को वर्तमान युग की राजनीतिक पृष्ठभूमि बनाकर जिस कौशल और कला के साथ उन्होंने हमारी राष्ट्रीय भावनाओं का नेतृत्व किया वह अपने में इतनी महान है कि हम उसके सामने नत मस्तक हो जाते हैं। उस काल के विदेशियों की पराजय में भारत की राष्ट्रीय भावना का जो गौरव और उल्लास निहित है वही प्रसादजी के युग को राष्ट्रीय चेतना को आलोकित और प्रसारित करता है और स्वतंत्रता

के सिपाहियों को शक्ति, स्फूर्ति और आत्मिक बल प्रदान करता है। प्रसादजी के सभी नाटक राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। भारत पर संकट आने के समय उनके प्रधान पात्र अपना भेद-भाव भूलकर अपने देश की रक्षा में संलग्न होते हैं और एकता, त्याग तथा आत्मोत्सर्ग आदि उच्च भावनाओं से प्रेरित होकर अपने जीवन की बाजी लगाते हैं। राष्ट्र-प्रेम के इस उफान में जीवन की समस्त उदात्त प्रवृत्तियों का समन्वय हो जाता है।

[४] **दार्शनिक प्रवृत्तियाँ**—प्रसादजी के नाटकों में दार्शनिक प्रवृत्तियों को भी उचित स्थान मिला है। दार्शनिक दृष्टि से उनके नाटकों का युग ब्राह्मण-धर्म तथा बौद्ध-धर्म के पारस्परिक संघर्ष का युग था। ऐसे युग के पात्रों का दार्शनिक होना स्वाभाविक ही है। इसीलिए उनके नाटकों के प्रायः सभी प्रधान पात्र दार्शनिक हैं। जनमेजय, व्यास, बिंबिसार, गौतम बुद्ध, चन्द्रगुप्त, दाण्ड्यायन, जीवक, स्कन्दगुप्त, देवसेना, अलका, राज्यश्री सब-के-सब दार्शनिकता के एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं और अवसर तथा आवश्यकता के अनुकूल अपने विचार व्यक्त करते हैं। उनकी विचार-धारा दो वादों पर आधारित है—(१) नियतिवाद और (२) कर्मवाद। वे सब-के-सब नियति के उपासक हैं और उसी के हाथ के खिलौने हैं। उनका विश्वास है कि नियति ही अखिल ब्रह्मांड का नियंत्रण करती है। इस प्रकार नियति जीव की स्वतंत्र-सत्ता की रक्षा करती है। प्रश्न उठता है कि नियति का इतना कठोर शासन होने पर क्या जीवन को अकर्मण्य हो जाना चाहिए? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर जीवक देता है। वह कहता है—'अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़-कर मैं निर्भय कर्म-कूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होवेगा, फिर कादर क्यों बनूँ—कर्म से विरक्त क्यों रहूँ।' जीवक के इस कथन में नियतिवाद और कर्मवाद का समन्वय स्पष्ट हो गया है। प्रसादजी के सभी आदर्श पात्र इसी समन्वय को लेकर जीवन के क्षेत्र में उतरे हैं।

कर्मवाद द्वन्द्व की अपेक्षा रखता है। बिना द्वन्द्व के उसकी सत्ता ही नहीं रह सकती। मानव में सुख-दुःख, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, उत्थान-पतन का जो चक्र चलता रहता है वह कर्म का ही फल है। दुःख से सुख की, पाप से पुण्य की, अधर्म से धर्म की, पतन से उत्थान की प्रतिष्ठा होती है। यदि दुःख का अस्तित्व मिट जाय तो सुख का महत्त्व ही क्या रह जायगा। इसलिए जीवन में दुःख-सुख, दोनों का अस्तित्व है। अपने अस्तित्व के लिए सुख दुःख की और दुःख सुख की अपेक्षा रखता है। ऐसी दशा में दोनों अभिन्न हैं। इस अभिन्नता में भिन्नता का अनुभव करना ही दुःख का कारण है। इसके विरुद्ध भिन्नता में अभिन्नता का अनुभव करना पृथ्वी पर स्वर्ग बनाना है। मानव-जीवन के दो रूप—स्त्री और पुरुष भी एक दूसरे से अभिन्न हैं। जीवन में दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। इस महत्त्व की रक्षा प्रेम-द्वारा ही संभव है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, देवसेना आदि इसी भावना से प्रभावित हैं। बौद्ध-दर्शन की करुणा का भी उन पर प्रभाव पड़ा है। विश्व से उदासीन रहकर उसका उपभोग करना और पृथ्वी पर करुणा का अजस्र स्रोत बहाना ही बौद्ध-दर्शन का लक्ष्य है। इस प्रकार प्रसादजी ने भारतीय दर्शन से नियतिवाद और कर्मवाद को लेकर बौद्ध-दर्शन के प्रेम, त्याग और रुकणा से उनका मेल कराया है और यही उनकी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ हैं।

[५] दाम्पत्य-प्रेम-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ—पुरुष का नारी के प्रति और नारी का पुरुष के प्रति जो सहज आकर्षण होता है उसका भी चित्रण नाटककार अपनी रचनाओं में करता है। प्रसादजी के नाटकों में जीवन की अन्य उदात्त प्रवृत्तियों के साथ-साथ दाम्पत्य-प्रेम संबंधी प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। इन प्रवृत्तियों के दो रूप हैं—(१) यौवन-काल में उत्पन्न होनेवाला निर्मल प्रेम और (२) बाल्यकाल में उत्पन्न होनेवाला निर्मल प्रेम। यौवन-काल में उत्पन्न होनेवाला प्रेम प्रथम-दर्शन पर आधारित है। इस प्रकार का प्रेम उस समय अंकुरित होता है जब पुरुष

और नारी एक-दूसरे को देखते ही प्रेम-सूत्र में बंध जाते हैं। प्रसादजी ने अपने नाटकों में अधिकांश इसी प्रकार के प्रेम के भव्य चित्र उतारे हैं। मणिमाला-जन्मेजय, बाजिरा-अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त, मल्लिका-विरुद्धक, चन्द्रलेखा-विशाख, कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त मौर्य, विजया-स्कन्दगुप्त, अलका-सिंहरण आदि सभी का प्रेम प्रथम-दर्शन में ही उत्पन्न होता है। प्रथम-दर्शन से उत्पन्न प्रेम के दो वर्ग हैं—(१) रूप-दर्शन-जन्य-प्रेम और (२) रूप-गुण-दर्शन जन्य-प्रेम। चन्द्रलेखा-विशाख, मणिमाला-जन्मेजय, बाजिरा-अजात, विजया-स्कन्दगुप्त आदि का प्रेम रूप-दर्शन-जन्य-प्रेम है। कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त अलका-सिंहरण और ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त का प्रेम रूप-गुण-दर्शन-जन्य-प्रेम है। इन दोनों प्रकार के प्रेमोदय के दो परिणाम चित्रित किये गये हैं—(१) कहीं वह मंगलमय होकर दाम्पत्य प्रेम के रूप में विकसित हुआ है और (२) कहीं वह अमंगलमय होकर निराशा, क्षोभ और पश्चाताप का कारण बन गया है। मणिमाला-जनमेजय, बाजिरा-अजातशत्रु, चन्द्रलेखा-विशाख, अलका-सिंहरण और ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त का प्रेम-व्यापार दामपत्य-जीवन के मंगलमय रूप में परिणत हो जाता है। इसके विरुद्ध विजया-स्कन्दगुप्त तथा मल्लिका-विरुद्धक का प्रेम-वासना-जन्य होने के कारण अन्त में विफल हो जाता है। रूप-गुण-दर्शन-जन्य-प्रेम ही प्रसादजी के नाटकों में महत्त्व पा सका है।

बाल्यकाल में उत्पन्न होनेवाला भोला और निर्मल प्रेम जब यौवन-काल की सीमा लाँघकर अचानक निखर उठता है तब उसमें कितनी सरलता, कितनी मादकता और कितनी तीव्रता आ जाती है यह तो देवसेना, सुवासिनी और कल्याणी ही बता सकती हैं। यह सत्य है कि उन्हें अपने जीवन में भौतिक सफलता नहीं मिलती, पर अपनी समस्त उमंगों, उल्लासों और आशाओं को बटोरकर त्याग, संतोष, तपस्या और उत्सर्ग-द्वारा वे नारी-जीवन का जो आदर्श उपस्थित करती हैं वह भारतीय परंपरा की दृष्टि से उचित और अनुकरणीय नहीं है।

कल्याणी आत्म-हत्या करती है; मालविका अपने प्रेमी, चन्द्रगुप्त मौर्य, के लिए प्राण दे डालती है; अतृप्त वासना की मूर्ति विजया आत्मघात करती है। रंगमंच से इन नारियों के आत्मघात का प्रदर्शन क्या आज की युवतियों को प्रभावित नहीं करता? क्या यह उनकी भावुकता का कुपरिणाम नहीं है? स्पष्ट है कि इस दिशा में प्रसादजी शेक्सपियर की कला से प्रभावित रहे हैं।

[६] **सामाजिक प्रवृत्तियाँ**—प्रसादजी ने सामाजिक प्रवृत्तियों का भी अंकन किया है। इस दिशा में 'ध्रुवस्वामिनी' उनकी सामाजिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। यह एक समस्या नाटक है। इसमें नारी-समस्या को स्थान मिला है। 'ध्रुवस्वामिनी' गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी है और उसका पति रामगुप्त कायर और क्लीव है। रामगुप्त उसे उपहार की वस्तु समझता है। ऐसी दशा वह उसके साथ विवाह-धर्म का पालन नहीं कर सकती। रामगुप्त के साथ उसका विवाह राक्षस-विवाह है। इस प्रकार ध्रुवस्वामिनी नारी-जाति की एक समस्या बन गयी है। इसी से संबद्ध एक दूसरी समस्या और भी खड़ी होती है और वह यह कि यदि राजा दुर्बल और अत्याचारी हो जाय तो क्या किया जाय? प्रसादजी ने इन दोनों समस्याओं को सुलझाया है। सामंत-कुमार रामगुप्त को पदच्युत कर देता है और फिर चन्द्रगुप्त खिगिल के डेरे में उसका बध करता है। इसके बाद चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का विवाह होता है। इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने इस नाटक को समस्या नाटक बनाया है और अतीत की पृष्ठ-भूमि पर वर्तमान समस्या का चित्रण किया है।

[७] **साहित्यिक प्रवृत्तियाँ**—प्रसादजी ने अपने नाटकों में अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी स्थान दिया है। वह केवल नाटककार ही नहीं, कवि भी हैं। इसलिए अपने नाटकों में उन्होंने अपने नाटकत्व और कवित्व का समन्वय बड़े कौशल से किया है। गद्य हो अथवा पद्य, दोनों में उनकी कल्पना और अनुभूति का चमत्कार दिखायी देता है।

और उनके संवादों में यत्र-तत्र गद्य-काव्य का-सा आनन्द आता है। उनके गीतों पर छायावाद और रहस्यवाद का स्पष्ट प्रभाव है। इस प्रकार वह अपने नाटकों में अपनी समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों को स्थान देने में समर्थ हो सके हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में उनकी नाटकीय प्रवृत्तियों का जो परिचय दिया गया है उससे प्रसादजी के नाटकों की आत्मा का स्पष्ट चित्र हमारे सामने आ जाता है और हम उस चित्र में उन्हें ही नहीं, अपितु उनके साथ-साथ भारत के भूत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ देख लेते हैं। प्रसादजी की इस कला ने उन्हें अपने युग का अग्रदूत बना दिया है।

भाषा की दृष्टि से प्रसादजी के नाटकों की अपनी विशेषताएँ हैं। अपने नाटकों में उन्होंने सर्वत्र खड़ीबोली का प्रयोग किया है जो

प्रसादजी की भाषा-शैली

संस्कृत के तत्सम शब्दों से लदी हुई है। संस्कृत साहित्य के गंभीर अध्ययन से संस्कृत की तत्सम शब्दावली को उन्होंने इतना अपना लिया है कि उन्हें भावानुकूल शब्दों के लिए सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी भाषा उनके विचारों का अनुगमन करती है। उनका शब्द-भांडार अत्यन्त विस्तृत, गहन और गंभीर है। उनकी भाषा में उनके शब्द भावों के सच्चे प्रतीक होते हैं और वे वाक्यों में नगीने की भाँति जड़े हुए-से प्रतीत होते हैं। उनकी भाषा में मुहावरों का अभाव है। जो मुहावरे यत्र-तत्र दिखायी पड़ते हैं वे अपने प्रकृत रूप में न आकर कृत्रिम रूप में आये हैं जिससे उनका सौन्दर्य बिगड़ गया है और प्रयोग भी खटकता है। विषय, विचार और भाव के अनुकूल उनकी भाषा में उतार-चढ़ाव भी पाया जाता है। नाटकीय कथोपकथन में उनके समस्त पात्रों की भाषा एक-सी है। उनकी भाषा और रस-योजना में पूर्ण सामंजस्य है। वीर-रस की भाषा में पर्याप्त ओज और उत्कर्ष है। इसी प्रकार शृंगार रस की भाषा तरल, मधुर और स्निग्ध है। प्रवाह तो उनकी भाषा में सर्वत्र पाया जाता है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त

उनकी भाषा में एक स्वाभाविक संगीत है। इस संगीत में अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो श्रोताओं को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है और वे उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नहीं कर पाते। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—शब्द की इन तीनों शक्तियों से उन्होंने अपनी भाषा को कलात्मक रूप देने की सफल चेष्टा की है। उनकी भाषा उनकी रुचि, उनके अध्ययन और उनके विषयों के अनुकूल है और उसपर उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

प्रसादजी की शैली अत्यन्त ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। छोटे-छोटे वाक्यों में गंभीर भाव भर देना उनकी शैली की परम विशेषता है। उपयुक्त शब्दों-द्वारा परिस्थितियों का आभास कराने तथा उसकी विशेषता उत्पन्न करने में उनकी शैली बे-जोड़ है। अपने नाटकीय कथोपकथन में उन्होंने अपनी इस शैली से बहुत लाभ उठाया है। इन विशेषताओं के साथ ही एक दोष भी है और वह यह कि जहाँ उन्होंने भावावेश अथवा अलंकार के आग्रह से लंबे-लंबे वाक्यों का प्रयोग किया है वहाँ संवाद की गति मन्द हो गयी है, कार्य-व्यापार रुक गया है और अर्थ-बोध में कठिनाई आ गयी है। एक उदाहरण लीजिए :—

'मुझे अपने मुख-चन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करनेवाले शरद-चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ और तुम्हारा सुरभि निश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।'

स्पष्ट है कि ऐसे लंबे बे-डौल वाक्य और ऐसी अलंकृत शैली नाटकीय संवाद के लिए सर्वथा अनुपयुक्त और अस्वाभाविक है।

संवाद की भाषा सरल, वेगमय और आकर्षक होनी चाहिए। उसमें नाटकीय तत्त्व का होना भी आवश्यक है, अन्यथा उपन्यास के सवादों और नाटक के संवादों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। शैली का संकोच भी नाटकीय संवाद की एक विशेषता है। प्रसादजी ने अपने संवादों में इन विशेषताओं को स्थान दिया है। दोष केवल

वहीं दिखायी देते हैं जहाँ वह भावुक होकर अपने मनोभावों को व्यक्त करने लगते हैं। उनके संवादों में शैली के निम्न रूप मिलते हैं :—

(१) **भावात्मक शैली**—भावुकता-प्रधान शैली भावात्मक शैली कहलाती है। प्रसादजी जब भावावेश में आते हैं तब उनकी यह शैली इतनी सरस, चुटीली और प्रवाहपूर्ण हो जाती है कि वह श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती है। कल्पना और अनुभूति का योग होने से इसमें विशेष चमत्कार रहता है जो रस के उद्रेक में बहुत सहायक होती है। वीर और शृंगार रसों के परिपाक में इसी शैली का प्रयोग हुआ है। इसलिए कहीं उसमें ओज है, कहीं स्निग्धता और तरलता।

(२) **आलंकारिक शैली**—जिन संवादों में नाटकत्व के साथ काव्यत्व का विशेष आग्रह है वहाँ अलंकारिक शैली पायी जाती है। ऐसी शैली में उपमाओं का अधिक प्रयोग हुआ है और गद्य-काव्य की-सी सरसता मिलती है। कहीं-कहीं अलंकारों से यह बोझिल भी हो गयी है और बोधगम्य न होकर क्लिष्ट हो गयी है। नाटकीय संवादों में काव्यत्व का अत्यधिक आग्रह दोष हो जाता है और कार्य-गति को अवरुद्ध कर देता है।

(३) **व्यंगात्मक शैली**—नाटकीय संवादों में अभीष्ट प्रभावों को तीव्रतर करने के लिए व्यंगात्मक शैली का प्रयोग किया जाता है। प्रसादजी ने अपने संवादों में इसी दृष्टि से इस शैली का प्रयोग किया है। उनके व्यंग मार्मिक और चुटीले होते हैं। उसमें कसक नहीं, मिठास होती है जिसका आनन्द वक्ता और श्रोता, दोनों समान रूप से लेते हैं। इस शैली-द्वारा हास्य-रस की निष्पत्ति होती है। वसन्तक, मुद्गल आदि इसी शैली-द्वारा हास्य की सृष्टि करते हैं।

(४) **विवरणात्मक शैली**—नाटकीय संवादों में जहाँ विवरण अथवा परिचय देने की आवश्यकता हुई है वहाँ इसी शैली का प्रयोग हुआ है। इस शैली में न तो भावों का वाहुल्य होता है, न विचारों का वेग, न अलंकारों की जमघट और न व्यङ्ग की चोटें। इसमें

बात सरल और सीधे ढंग से साधारण बोल-चाल की भाषा में कही जाती है।

(५) गंभीर शैली—इस शैली के अन्तर्गत नाटकीय संवादों में दार्शनिक विचारों की विवेचना की गयी है। गौतम, व्यास, दण्ड्यायन आदि के संवाद इसी शैली के अन्तर्गत आते हैं। दार्शनिक विचारों की गहनता के कारण यह शैली क्लिष्ट हो गयी है।

प्रसादजी के प्रारंभिक नाटकों में उनकी उपर्युक्त शैलियों का परिष्कृत रूप नहीं है। उनकी वाक्य-रचना शिथिल है और उसमें तुक का विशेष आग्रह है। ऐसा लगता है कि आरम्भ में उन्होंने पारसी नाटकीय संवादों का अनुकरण किया, पर जब उन्हें उसकी अनुपयुक्तता दीख पड़ी तब उन्होंने उसका वहिष्कार कर दिया। पद्यात्मक संवाद भी उन्हें इसीलिए छोड़ने पड़े, पर गोतों का मोह बना ही रहा। केवल 'स्कन्द-गुप्त' में उन्होंने १६ गीतों की रचना की। नाटक में इतने गीतों को और वह भी लंबे-लंबे रहस्यवादी और छायावादी गीतों को स्थान देना उचित नहीं हैं। उनके नाटकों में उनके गीतों की तीन प्रधान शैलियाँ हैं। **(१) दार्शनिक विचार-प्रधान गीत, (२) देश-प्रेम-प्रधान गीत और (३) विशुद्ध प्रेम-प्रधान गीत**। शैली, भाव, कल्पना और अनुभूति की दृष्टि से इन गीतो की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। कहना केवल इतना ही है कि जहाँ इनकी सृष्टि प्रसंगानुसार नहीं है वहाँ इनसे दोष आ गया है।

इस प्रकार हमने देखा कि प्रसादजो की नाट्य-साधना में गुण अधिक और दोष कम हैं। व्यवहारिक दृष्टि से उनके नाटक हमारी अतीत की स्मृतियों को जगाते हैं, हमें भूली हुई कहानियाँ सुनाते हैं, हममें आर्य-संस्कृति के प्रति आस्था उत्पन्न करते हैं, हमें राष्ट्रीय प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं और हमारे सामने भूत को वर्तमान बनाने में सफल होते हैं। हिन्दी-नाट्य साहित्य और हिन्दी के नाटककार उनके इस आभार से कभी मुक्त नहीं हो सकते।



: ३ :

वृन्दावनलाल वर्मा

जन्म सं० १६४७

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के प्रतिभा-संपन्न उपन्यासकार, कहानीकार और नाटककार हैं। अपने विद्यार्थी-जीवन से ही उन्हें लिखने का अभ्यास है और तब से अबतक वह बराबर लिखते आ रहे हैं। अपने देश के इतिहास से उन्हें विशेष प्रेम है और उन्होंने उसके प्रत्येक युग का गंभीर अध्ययन किया है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखने में उनकी कला अधिक समर्थ है और इसीलिए वह हिन्दी के 'वाल्टर स्काट' माने जाते हैं। सर्वप्रथम सं० १६६६ में वह नाटककार के रूप में हिन्दी-संसार के सामने आये, पर आगे चलकर उपन्यासकार के रूप में उन्हें अधिक प्रतिष्ठा मिली। सं० १६८४ से उन्होंने नियमित रूप से लिखना आरंभ किया। उन्होने कई उपन्यासों और कहानियों की रचना की। इसके बाद उन्होंने नाटक-रचना की ओर भी ध्यान दिया। उन्होंने कई नाटक लिखे जिनका हिन्दी नाट्य-साहित्य में विशेष महत्त्व है। उनके उपन्यासों की भांति उनके ऐतिहासिक नाटक भी उनके विशेष

वर्माजी का नाट्य-साहित्य

अध्ययन के परिणाम हैं। रचना-काल की दृष्टि से उनके नाटक निम्नलिखित हैं :—

१. सेनापति उदाल :.........१९९९	२. धीरे धीरे :..........१९९९
३. राखी की लाज :..........२००३	४. बाँस की फाँस :.....२००४
५. फूलों की बोली :.........२००४	६. झाँसी की रानी :....२००५
७. काश्मीर का कांटा :......२००५	८. पीले हाथ :.........२००५
९. लो भाई पंचो लो :......२००४	१०. पायल :...........२००६
११ हंस-मयूर :............२००५	१२. खिलौने की खोज :..२००७
१३. मंगल सूत्र :............२००६	१४. बीरबल :..........२००७
१५ पूर्व की ओर :..........२००७	१६. जहाँदार शाह :.......२००७
१७. सगुन :................२००७	१८. कनेर :..............२००९

१९. नीलकंठ :...............२००८

विषय की दृष्टि से उपर्युक्त नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार होगा :—

१. **ऐतिहासिक**—सेनापति उदाल, फूलों की बोली, काश्मीर का काँटा, झाँसी की रानी, हंस-मयूर, पूर्व की ओर, बीरबल और जहाँदार शाह।

२. **सामाजिक**—राखी की लाज, बाँस की फाँस, लो भाई पंचो लो, पीले हाथ, पायल, मंगल-सूत्र, खिलौने की खोज, सगुन, कनेर, नीलकंठ, टंटागुरु और शासन का डंडा।

शैली की दृष्टि से उनके नाटकों का वर्गीकरण इस प्रकार होगा :—

१. **नाटक**—सेनापति उदाल, राखी की लाज, फूलों की बोली, बाँस की फाँस, झाँसी की रानी, हंस-मयूर, पायल, मंगल-सूत्र, खिलौने की खोज, पूर्व की ओर, बीरबल, नीलकंठ आदि।

२. **एकांकी**—काश्मीर का काँटा, सगुन, जहाँदार शाह, लो भाई पंचो लो, पीले हाथ, कनेर, टंटागुरु, शासन का डंडा आदि।

वर्माजी की नाट्य-कला के दो रूप हैं—एक रूप का सम्बन्ध उनके नाटकों से है और दूसरे रूप का सम्बन्ध उनके एकांकियों से है। हम उनकी नाट्य-कला के इन्हीं दोनों रूपों पर विचार करेंगे।

वर्माजी की नाट्य-कला

हम बता चुके हैं कि सर्वप्रथम सं० १९६६ में उन्होंने 'सेनापति उदाल' की रचना की थी और इसी से उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ हुआ था। इसके पश्चात् लगभग ३६ वर्ष तक उन्होंने कोई नाटक नहीं लिखा। उपन्यास-रचना की ओर उनकी प्रवृत्ति इतनी जमी कि इस क्षेत्र से उनका ध्यान हटा रहा। सं० २००३ में वह अपना नाटक 'राखी की लाज' लेकर फिर सामने आये और तब से अबतक उन्होंने हमें १९-२० नाटक दिये, जो अपनी कला के कारण हिन्दी-नाट्य साहित्य के विकास में विशेष रूप से सहायक हुए हैं।

वर्माजी हिन्दी के सफल और स्वस्थ नाटककार हैं। उन्होंने नाटक रचना की ओर उस समय ध्यान दिया जब हिन्दी-नाट्य कला की रूप रेखा अधिकांश स्थिर हो चुकी थी। इसलिए उन्हें अपनी कला का मार्ग निश्चित करने के लिए अधिक भटकना नहीं पड़ा। हिन्दी-नाट्य-कला के लिए क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य है?—इन दोनों प्रश्नों ने उनके सामने विशेष उलझनें उपस्थित नहीं कीं। विषय की उनके पास कमी नहीं थी। इतिहास के गम्भीर अध्ययन और विवेचन से उनके पास पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गयी थी। आधुनिक युग की सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ भी उनके सामने आ चुकी थीं। आवश्यकता थी उन्हें नाटकीय रूप देने की। वर्माजी ने प्राचीन और आधुनिक, दोनों कालों को अपने नाटको में स्थान दिया है और अपनी कला के माध्यम से उन्हें व्यक्त किया है।

वर्माजी की नाट्य-कला पर आधुनिक हिन्दी-नाट्य-कला का विशेष प्रभाव है। उनके प्रायः सभी नाटक घटना-प्रधान हैं। इसलिए उनकी वस्तु-योजना घटनाओं के ही अनुकूल है। प्रत्येक नाटक की कथावस्तु

अंकों में विभाजित है और प्रत्येक अंक के अन्तर्गत कई दृश्य हैं। अंको की संख्या अधिक से अधिक चार है। इनके अन्तर्गत कहीं चार, कहीं पाँच और कहीं नौ तक दृश्य मिलते हैं। वर्माजी ने कथा-वस्तु को अंकों और दृश्यों में विभाजित करते समय अभिनय का विशेष रूप से ध्यान रखा है। इसलिए उनके किसी भी नाटक का अभिनय करने के लिए दो-तीन घण्टे पर्याप्त हैं। अंक और दृश्य सभी छोटे-छोटे हैं। हँस-मयूर के चौथे अंक के सातवें दृश्य में केवल दुंदुभी बजानेवाला ही दो वाक्यों में एक घोषणा करके चला जाता है। इसी प्रकार 'फूलों की बोली' के अंतिम पाँचवें दृश्य में केवल माधव बोलता है और उसी के प्रस्थान से नाटक समाप्त होता है। दृश्यों के आकार-प्रकार में शास्त्रीय नियम का पालन नहीं हुआ है। कहीं छोटे के बाद बड़े दृश्य हैं और कहीं बड़े के बाद छोटे। कथानक की उलझनें कहीं नहीं हैं। आधिकारिक और प्रासंगिक कथाएँ एक-दूसरे से मिलकर सरल गति से आगे बढ़ती हैं। अवसर और आवश्यकता के अनुकूल उनमें कौतूहल, विस्मय, और रोमांस को भी स्थान दिया गया है। कथा-वस्तु में घटनाएँ, आदि से अन्त तक, सुसंबद्ध हैं और और उनमें कार्य-ऐक्य और प्रभाव-ऐक्य भी पाया जाता है।

वर्माजी के सभी पात्र पार्थिव हैं। वे ऐहिक विषयों से ऊपर नहीं उठते। वे परिस्थितियों से जूझते हैं और उन्हीं के माध्यम से अपने चरित्र का विकास करते हैं। उनमें अन्तर्द्वन्द्व का अभाव है। चरित्र-चित्रण के लिए पात्र के कार्य-कलाप, संवाद तथा अन्य पात्रों के कथन—सब का सहारा लिया गया है। पात्रों की संख्या आवश्यकतानुसार कहीं कम और कहीं अधिक है। वे किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व न करके अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से ही उलझते दीख पड़ते हैं। जीवन के सभी क्षेत्रों से पात्रों का चयन किया गया है।

वर्माजी के नाटकों पर पाश्चात्य शैली का स्पष्ट प्रभाव है। अंक, दृश्य, संवाद, पात्र, उद्देश्य—इन सब के विधान अंगरेजी नाट्य-कला

पर ही आश्रित हैं। गर्भांक, विष्कंभक, संधियाँ, अर्थ-प्रकृतियाँ, स्वगत कथन आदि का सर्वथा अभाव है। रस-योजना भी नहीं है। रंग-संकेत पर्याप्त मात्रा में हैं। इनसे अभिनय में विषय सहायता मिलती है। वर्माजी के प्रायः सभी नाटक अभिनेय हैं। दृश्य-विधान में उनकी नाट्य-कला का बहुत ही सुन्दर विकास हुआ है। इस दृष्टि से वह अपनी नाट्य-कला में सबसे आगे हैं। उनके नाटकों में सब प्रकार के अभिनय मिलते हैं और उनसे कथा को विशेष गति मिलती है।

वर्माजी के दृश्य-विधान पर चित्रपटीय-कला का भी प्रभाव पड़ा है। दृश्य के भीतर दृश्य दिखाना चित्रपटीय कला की विशेषता है। वर्माजी ने अपने दृश्य-विधान में इस कला का आश्रय लिया है। 'बीरबल' के द्वितीय अंक का तृतीय दृश्य इसी प्रकार का है। इसके अतिरिक्त कई ऐसे भी दृश्य हैं जो चित्रपट पर ही दिखाये जा सकते हैं, रंगमंच से उनका दिखाया जाना सर्वथा असंभव है।

वर्माजी की एकांकी-कला विशेष सफल नहीं है। 'कनेर', 'टंटागुरू', 'शासन का डंडा' आदि एकांकियों में वाद-विवाद ने ही कथा-वस्तु का रूप धारण कर लिया है। वाद-विवाद में भी रोचकता नहीं है। उसमें न तो गति है और न वेग। कार्य-योजना का भी सर्वथा अभाव है। 'पीले हाथ' एक सामाजिक एकांकी है। यह भी घटना-प्रधान है। एकांकी में घटना का आरंभ जिस क्षिप्र गति से होता है उसका इसमें भी अभाव है। पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व तो है ही नहीं। साधारण घटना साधारण गति से आगे बढ़ती है और अपने उद्देश्य पर पहुँचकर शान्त हो जाती है। 'काश्मीर का काँटा' एक राजनीतिक एकांकी है। वर्माजी ने इसे ऐतिहासिक नाटक कहा है। अक्तूबर सन् १९४७ में कबीलाइयों को उभाड़कर पाकिस्तानी-सरकार ने काश्मीर पर जो आक्रमण किया था और उस आक्रमण को विफल करने में ब्रिगेडियर राजेन्द्रसिंह तथा उनके साथियों ने अपनी जिस वीरता और देश-प्रेम का परिचय दिया था उसी का चित्रण इस एकांकी में किया गया है। इसमें अन्य

एकांकियों की भाँति दृश्य-विधान नहीं है। यह वर्माजी की सफल रचना है। इसका अभिनय भी हो चुका है। समष्टि रूप से वर्माजी के एकांकी उनके नाटकों की अपेक्षा कला-संपन्न नहीं हैं। नाट्य-कला की दृष्टि से वर्माजी के रंग-संकेत विशेष रूप से सराहनीय हैं और इस दिशा में उन्होंने हिन्दी-नाट्यकला के एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

वर्माजी की नाट्य-कला के उपर्युक्त विवेचन से उनकी नाट्य-साधना का आभास मिल जाता है। नाटक-रचना में उनका वही उद्देश्य

वर्माजी की नाट्य-साधना

है जो उनके उपन्यासों से व्यक्त होता है। यदि वह चाहते तो अपने इन्हीं कथानकों को उपन्यास अथवा कहानी का रूप दे सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। अध्ययन की सामग्री से उपन्यास और कहानियाँ लिखने के पश्चात् जो शेष रह गया उसी को उन्होंने नाटकीय कला के माध्यम में अपने नाटकों में उतार दिया। इसी कारण उनकी नाट्य-साधना से कला का अनुरोध तो है, किसी विशेष प्रेरणा का आग्रह नहीं है। यहाँ हम नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से उनकी नाट्य-साधना पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि इस दिशा में वह कहाँ तक सफल हो सके हैं।

[१] **कथा-योजना**—वर्माजी ने अपने नाटकों के लिए कथानकों का चुनाव किसी एक ही क्षेत्र से नहीं किया है। उनके कथानक दो प्रकार के हैं— **(१) ऐतिहासिक और (२) सामाजिक**। ऐतिहासिक कथा-नकों का समय तीसरी शताब्दी से आज तक का है। 'पूर्व की ओर' का कथानक ईस्वी सन् २८० का है। पल्लव राजकुमार अश्वतुङ्ग अथवा अश्ववर्मा इसका नायक है। 'हंस-मयूर' का कथानक छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की घटनाओं पर आश्रित है। 'फूलों की बोली' अरबी यात्री अलबरूनी की 'किताबुल हिन्द' की एक कथा पर आधारित है। इसका समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। 'बीरबल' का कथानक सोलहवीं शताब्दी का है। 'झाँसी की रानी' का संबंध १८५७ के प्रथम भारतीय आन्दोलन से है। स्पष्ट है कि वर्माजी ने भारतीय इतिहास के

विविध कालों से सामग्री एकत्र की है और उसे अपनी कल्पना से चमकाया है। इन ऐतिहासिक नाटकों में से 'हंस-मयूर' और 'झाँसी की रानी' ही ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें इतिहास की रक्षा की गयी है। शेष नाटकों में कल्पना का अंश इतना अधिक है कि ऐतिहासिक घटनाएँ अपना महत्त्व खो बैठी हैं।

वर्माजी के दूसरे प्रकार के नाटक सामाजिक हैं। ऐसे नाटकों की कथा-योजना में विशेष परिश्रम से काम नहीं लिया गया है। 'राखी की लाज' और 'बाँस की फाँस' के कथानक अत्यन्त साधारण हैं। उनसे आज के जीवन का कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने नहीं आता। उनमें न तो वाह्य द्वन्द्व है और न अन्तर्द्वन्द्व, सस्ते ढङ्ग का रोमांस अवश्य है। 'खिलौने की खोज' का कथानक स्वस्थ है और उसमें अन्तर्द्वन्द्व को भी स्थान मिला है। इसमें एक मनोवैज्ञानिक तत्व का उद्घाटन किया गया है। शेष नाटक कथानक की दृष्टि से अत्यन्त साधारण हैं। कुछ में तो कथानक ही नहीं है, केवल वाद-विवाद और बातचीत ही एक प्रकार से उन नाटकों का कथानक बन गया है।

[२] **वस्तु-योजना**—वर्माजी की वस्तु-योजना पर पाश्चात्य नाट्य-कला का प्रभाव है। उनके नाटकों में अंक-विधान और दृश्य-विधान की क्रमवद्ध योजना मिलती है और उनमें घटना-ऐक्य के साथ साथ प्रभाव-ऐक्य बराबर बना रहता है। रंग-संकेतों का विधान भी उचित मात्रा में हुआ है जिसके कारण रंगमंच-संचालक को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती। आकस्मिक, अप्रत्याशित, रोमांच-कारी और आश्चर्यजनक घटनाओं के सन्निवेश से वस्तु-योजना को आकर्षक और मनोरंजक बनाने की भी चेष्टा की गयी है। वस्तु में सरलता और स्थूलता अधिक है। वाह्यद्वन्द्व तो है, पर अन्तर्द्वन्द्व का सर्वथा अभाव है। वस्तु की दृष्टि से 'हंस-मयूर' और 'खिलौने की खोज' वर्माजी के अच्छे नाटक हैं। इनकी वस्तु-योजना सबल और कलात्मक है। एकांकियों की वस्तु-योजना बड़ी शिथिल और नीरस है। ऐसा लगता

है कि वर्माजी ने अपने एकांकी सामयिक प्रसंगों को लेकर केवल प्रचार की दृष्टि से लिखे हैं। उनमें न तो गति है और न वेग। वे हमारे हृदय को भी अधिक स्पर्श नहीं करते, बातचीत का आनन्द उनसे अवश्य मिलता है। उसमें भी विशेष उतार-चढ़ाव नहीं है। 'कनेर' की अधिकांश बातें तो ऐसी हैं कि उनमें साधारण दर्शकों को आनन्द भी नहीं मिल सकता। अभिनय की दृष्टि से वस्तु-योजना अवश्य सफल है।

[३] **पात्र-योजना**—वर्माजी की पात्र-योजना अत्यन्त विस्तृत है। राजा, न्यायाधीश, अधिकारी, धर्माचार्य, क्षत्रप, ब्रिगेडियर, डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, हठयोगी, चित्रकार, सिपाही, सैनेटरी इंस्पेक्टर, गायक, वादक, पुलिस, धोबी, चमार, हिन्दू, मुसलमान, अँगरेज—सब वर्माजी के पात्र हैं। इनकी तीन श्रेणियाँ हो सकती हैं—(१) **उत्तम**, (२) **मध्यम** और (३) **निम्न**। उत्तम पात्रों में राजा, धर्माचार्य आदि की गणना की जा सकती है। डाक्टर, इंजीनियर चित्रकार, पुलिस आदि मध्यम श्रेणी के पात्र हैं। चमार, धोबी, पहरेदार, डाकू आदि का निम्न श्रेणी से संबंध है। स्पष्ट है कि वर्माजी की पात्र-योजना में जीवन के प्रत्येक स्तर के लोगों को प्रतिनिधित्व मिला है। उसमें ग्रामीण-नागरिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, स्वामी-सेवक, देशी-विदेशी सब हैं, पर उन सब में ऐहिकता के प्रति इतना मोह है कि वे जीवन की साधारण परिस्थितियों से न तो आगे बढ़ते हैं और न ऊँचे उठते हैं। उनमें न तो आकर्षण है, न फुर्ती, न स्पंदन, न विचारों का वेग, न परिस्थितियों की प्रेरणा और न मानसिक संघर्ष। उनके कथोपकथन में भी विशेष चमत्कार नहीं है। घटनाओं के वाह्य द्वन्द्व में वे अपने साधारण गुणों का विकास करते हैं और कहीं-कहीं अपनी आभा विखेर कर शान्त हो जाते हैं। उनके दृष्टिकोण में इतनी स्थूलता है कि वे हमें जीवन की गहराई में नहीं ले जाते। ऐतिहासिक पात्रों में कुछ ही पात्र ऐसे हैं जो चरित्र-विकास की दृष्टि से खरे उतरते हैं। 'हंस-मयूर' और 'पूर्व की ओर' में वर्माजी को विशेष सफलता मिली है।

सामाजिक नाटकों में 'खिलौने की खोज' उत्कृष्ट रचना है। इसमें डा० सलिल और सरूपा के चरित्र साधारण परिस्थितियों से ऊँचे उठे हैं। वर्माजी के पुरुष-पात्रों में जैसी विविधता और अनेकरूपता है, वैसी उनके नारी-पात्रों में नहीं है। नारी-पात्रों में से कुछ का संबंध राजवंश से है और कुछ का साधारण स्थिति के परिवारों से। 'हंस-मयूर' में सुनन्दा और तन्वी; 'फूलों की बोली' में कामिनी और माया; 'बीरबल' में हसीना और गोमती; 'राखी की लाज' में चम्पा; 'खिलौने की खोज' में रूपा, नीरा, नन्दिनी आदि नारी-पात्रों की सृष्टि की गयी है। इन नारी-पात्रों में स्वाभाविक कोमलता है, जीवन का मिठास और माधुर्य है। इन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान है और ये समय-समय पर पुरुष-पात्रों को प्रोत्साहित और उनका प्रथ-प्रदर्शन भी करती हैं। 'पूर्व की ओर' मे जंगली लड़की का; 'खिलौने की खोज' में सरूपा का; 'बाँस की फांस' में मंदाकिनी का और 'हंस-मयूर' में सुनन्दा और तन्वी का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। इनमें नारी-हृदय की कोमल प्रवृत्तियाँ मिलती है। कठोर प्रकृति की नारियाँ वर्माजी के नाटकों में नहीं हैं।

वर्माजी ने अपने पात्रों के चरित्र-विकास में उन सभी उपायों का सफल प्रयोग किया है जो शास्त्रीय दृष्टि से मान्य हैं। पात्रो के संवाद, उनके संबंध में अन्य पात्रों के विचार, उनके कार्य-कलाप, उनकी वेश-भूषा, उनकी रहन-सहन, उनकी भाव-मुद्रा, आदि सब चरित्र को समझाने में सहायक हैं। पात्र कहाँ हँसते हैं, कहाँ गंभीर हो जाते हैं, कहाँ किस रूप में आते हैं और किस प्रकार आचरण करते हैं? इन सब प्रश्नों के उत्तर में रंग-संकेत देकर रंगमंच-संचालक की कठिनाइयाँ दूर की गयी हैं और साथ ही पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

[४] **संवाद-योजना**—वर्माजी की संवाद-योजना के तीन रूप हैं—(१) कहीं संवाद वाद-विवाद का रूप धारण करते हैं, (२) कहीं उससे किसी गत घटना अथवा वर्तमान परिस्थिति का परिचय मिलता है और

(३) कहीं मनोवेगों का उतार-चढ़ाव। वाद-विवाद का रूप धारण करने वाले संवाद 'लो भाई, पंचो लो', 'कनेर' आदि में मिलते हैं। ऐसे संवादों में दलीलों की काट-छाँट, मीठी चुटकियाँ, एक-दूसरे को परास्त करने की भावना, संभाषण कला आदि तो मिलती हैं, मन के टिकाव का कोई साधन नहीं प्राप्त होता। दूसरे प्रकार के संवाद ऐसे हैं जो गत घटनाओं और वर्तमान परिस्थितियों का यथार्थ परिचय कराते हैं। उनसे कथा-वस्तु में गति आती है और पात्र की स्थिति को समझने में विशेष सहायता मिलती है। तीसरे प्रकार के संवादों में मानव-मन की उथल-पुथल, विचारों की कमनीयता, भावों की सरसता और हृदय की तल्लीनता मिलती है। ऐसे संवाद प्रेम-प्रसंगों में ही आये हैं और उनसे कथा-वस्तु की प्रवाह को विशेष बल मिला है। 'पूर्व की ओर', 'राखी की लाज', 'वीरबल', 'खिलौने की खोज' तथा 'हंस-मयूर' के संवादों में वर्माजी प्राण भरने में अधिक सफल हुए हैं।

भाषा की दृष्टि से वर्माजी के संवाद बहुत सफल हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में उनकी संवाद-योजना चुस्त और गठीली है। कब क्या कहना चाहिए और किस भाषा तथा शैली में कहना चाहिए?—इसका वर्माजी ने अपने संवादों में पूरा ध्यान रखा है। उनके सभी पात्र हिन्दी का प्रयोग करते हैं। कबीलाइयों की भाषा जैसी उखड़ी-पुखड़ी होनी चाहिए, वैसी ही है। इसी प्रकार ग्रामीणों की भाषा में साहित्यिक रस नहीं है। शिष्ट वर्ग के पात्रों की भाषा में साहित्यिकता मिलती है। नारी-पात्रों की भाषा में स्वाभाविक कोमलता है। अतएव स्पष्ट है कि वर्माजी ने परिस्थिति, अवसर, आवश्यकता, पात्रों की योग्यता और देश-काल के अनुसार अपनी भाषा का शृंगार किया है। इससे उनकी भाषा में सजीवता, स्वाभाविकता और सरसता बराबर बनी रहती है। 'हंस-मयूर' के संवादों की भाषा अत्यन्त उत्कृष्ट और सजीव है।

(५) **देश-काल-योजना**—वर्माजी के प्रायः सभी नाटकों में देश-कौल की बड़ी सुन्दर योजना हुई है। अपने ऐतिहासिक नाटकों में

उन्होंने जो चित्र उतारे हैं वे अपने युग का पूर्ण परिचय देने में समर्थ हैं। 'पूर्व की ओर', 'हंस-मयूर', 'बीरबल', 'झाँसी की रानी' इन सब नाटकों में देश-काल का अच्छा चित्रण हुआ है। 'पूर्व की ओर' और 'हंस-मयूर' प्राचीन काल की शासन-व्यवस्था, राजनीतिक दाँव-पेंच, सामाजिक दशा तथा साहित्य और कला की उन्नति का ज्ञान कराने में अधिक समर्थ हैं। 'हंस-मयूर' में तत्कालीन जीवन की स्पष्ट झाँकियाँ मिलती हैं। उस समय के भारत में धार्मिक संघर्ष का क्या रूप था? बौद्ध, जैनी, वैष्णव, शैव, कापालिक आदि के बीच किस प्रकार झगड़े होते थे?; हूणों के आक्रमण से देश में कैसी विषम राजनीतिक परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी?; समाज की क्या दशा थी?; साहित्य और कला ने कहाँ तक उन्नति की थी?; वेश-भूषा कैसी थी?; अलंकार और आभूषण कैसे पहने जाते थे?; गणतंत्र की क्या दशा थी?; चुनाव आदि किस प्रकार होते थे?; पंचायतें किस प्रकार अपना कार्य करती थीं?; इन सब प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर हमें 'हंस-मयूर' से मिल जाते हैं। इसी प्रकार 'फूलों की बोली' और 'बीरबल' से मुसलिम-सभ्यता का आभास मिल जाता है। इतिहास-प्रेमी होने के कारण वर्माजी इस कला में पटु हैं। उनमें एक विशेषता और है और वह यह कि उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर वर्तमान काल की समस्याओं का चित्रण बहुत कम किया है।

वर्माजी के सामाजिक नाटक वर्तमान जीवन पर आधारित हैं। 'राखी की लाज,' 'बाँस की फाँस,' 'खिलौने की खोज,' 'कनेर', 'पीले हाथ' 'लो भाई पंचो लो' आदि में से कुछ का संबंध सामाजिक समस्याओं से है और कुछ का राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं से। 'राखी की लाज', 'बाँस की फाँस', 'खिलौने की खोज' आदि विशुद्ध सामाजिक नाटक हैं। इनमें विवाह, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, सामाजिक वैषम्य आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। 'कनेर,' 'टंटागुरू' और 'शासन का डंडा' में कुछ चलते-फिरते विषयों को स्थान मिला है। 'लो भाई पंचो लो' में पंचायत की समस्याएँ हैं। इन नाटकों में वर्तमान जीवन की गहरी

समस्याएँ नहीं हैं। घटना-प्रधान होने के कारण इनके पात्रों में विशेष चमत्कार भी नहीं है। कुछ सुनी-सुनाई घटनाओं के आधार पर ही इनकी सृष्टि हुई है और वह भी वाद-विवाद के रूप में। इस प्रकार 'खिलौने की खोज' के अतिरिक्त, वर्माजी के अन्य सामाजिक नाटक, विशेष महत्त्व के नहीं।

[६] **अभिनय-योजना**—वर्माजी के प्रायः सभी नाटक अभिनेय हैं। उनके कई नाटक अभिनीत भी हो चुके हैं। उनका दृश्य-विधान इतना सरल, संवाद इतने संक्षिप्त और चुस्त, तथा भाषा इतनी सजीव और स्वाभाविक है कि रंगमंच पर किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। रंग-संकेतों की सृष्टि भी अभिनय में विशेष रूप से सहायक है। फिल्मी-कला से प्रभावित कुछ दृश्य ऐसे अवश्य हैं जो रंगमंच से नहीं दिखाये जा सकते, पर उनके कारण विशेष बाधा भी नहीं पड़ती। कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण तथा नाट्य-कला की योजना कहीं भी अभिनय में बाधक नहीं है।

[७] **संगीत-योजना**—वर्माजी ने अपने नाटकों में आवश्यकता और अवसर के अनुकूल गीतों का भी आयोजन किया है। 'बाँस की फाँस', 'फूलों की बोली' 'नीलकंठ', 'हंस-मयूर', 'खिलौने की खोज' और 'राखी की लाज' में छोटे-छोटे गीत मिलते हैं। ऐसे गीत कहीं नेपथ्य से और कहीं रंगमंच से गवाये गये हैं। कहीं-कहीं बुन्देलखंडी गीतों को भी उचित स्थान मिला है। 'नीलकंठ' में भिखारी कबीर की वाणी गाते हैं। वर्माजी के स्वरचित गीतों में विशेष मार्दव और तन्मयता नहीं है। गीत के साथ नृत्य का भी सफल आयोजन है।

[८] **रस-योजना**—वर्माजी के नाटकों में शास्त्रीय दृष्टि से रस-योजना का कोई क्रम नहीं है। पाश्चात्य नाट्य-कला के अनुसार उनके नाटक सोद्देश्य हैं जिनमें असत्य पर सत्य की और अन्याय पर न्याय की विजय घोषित की गयी है। 'हंस-मयूर' में वीर और श्रृंगार रसों को स्थान मिला है। 'राखी की लाज' और 'खिलौने की खोज' में श्रृंगार की प्रधानता है। 'काश्मीर का काँटा' में वीर रस का ओज है। 'वीरबल' में हास्य रस प्रमुख है।

अब हम वर्माजी की भाषा और शैली पर विचार करेंगे। वर्माजी आरंभ से ही हिन्दी-प्रेमी हैं। उन्होंने संस्कृत-साहित्य का भी अध्ययन किया है। इसलिए वह अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बड़ी सफलता से करते पाये जाते हैं। उनकी भाषा में उनका शब्द-चयन विचारों और भावों का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता है। व्यावहारिक दृष्टि से उनके शब्द-चयन में उर्दू-फारसी के भी शब्द रहते हैं। फरेब, गलत, काफी, शायद, रिश्वत, यक़ीन, अज़ादी आदि ऐसे अनेक उर्दू-फारसी के शब्द उनके संवादों से एकत्र किये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त देशज शब्दों का भी प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है। फुरफुरी, नंगाफोरी, भरभराते आदि ऐसे ही शब्द हैं। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा का रूप कहीं भी विकृत नहीं हुआ है। वर्माजी व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती हैं। वह अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते समय भाषा की व्यावहारिकता पर भी ध्यान रखते हैं।

वर्माजी की भाषा-शैली

वर्माजी की भाषा सर्वत्र एक-सी नहीं है। देश-काल और पात्र के अनुसार उनकी भाषा परिवर्तित हुई है। उनके सभी पात्र नागरिक भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसी भाषा अवसर और आवश्यकता के अनुसार कहीं साहित्यिक है और कहीं असाहित्यिक। ग्रामीण पात्रों-द्वारा उन्होंने जिस भाषा का रूप प्रस्तुत किया है, वह बोलचाल की भाषा होने पर भी साहित्यिक नहीं है। सभ्य और शिक्षित पात्रों के दो वर्ग हैं—एक तो वह जो पौराणिक अथवा हर्ष-काल के पूर्व के पात्रों से संबंधित है और दूसरा वह जो मुसलिम-सभ्यता के अभ्युदय से आधुनिक काल तक के पात्रों को अपने में स्थान देता है। इन दोनों वर्गों की भाषा में पर्याप्त अन्तर है। 'हंस-मयूर' की भाषा 'बीरबल' की भाषा से नितान्त भिन्न है। 'कनेर' के रॉवर्ट और जैकसन अच्छी हिन्दी बोलते हैं। वे विदेशी से नहीं जान पड़ते।

वर्माजी की भाषा प्रवाहपूर्ण, प्रभावोत्पादक, प्रसंगानुकूल, सरस

संयत और श्लील होते हुए भी कलात्मक नहीं है। उसमें कहीं-कहीं ही नाटकत्व और कवित्व का संयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त, संवादों की भाषा में जैसी चुस्ती और जैसा भाव-सौंदर्य होना चाहिए वैसा नहीं है। उनकी भाषा में संकोच की अपेक्षा विस्तार अधिक है। उसमें भावों की गंभीरता और तल्लीनता का अभाव है। अनेक स्थलों पर उनके वाक्य अंगरेजी के अनुवाद से प्रतीत होते हैं जो न तो सरस हैं और न प्रवाह-पूर्ण। कहीं-कहीं शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग भी खटकता है और व्याकरण-संबंधी अशुद्धियाँ भी मिलती हैं। कहावतों का प्रयोग उन्होंने अवश्य किया है और उनसे उनकी भाषा को पर्याप्त शक्ति मिली है।

वर्माजी की शैली चार प्रकार की है—(१) भावात्मक, (२) आलं-कारिक, (३) व्यंगात्मक और (४) वर्णनात्मक। इन शैलियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(१) भावात्मक शैली—प्रेम-प्रसंगों के अन्तर्गत इसी शैली को महत्त्व दिया गया है। यह शैली सरस, आकर्षक और प्रवाहपूर्ण है। इसमें भावनाओं का वेग भी है और हृदय की व्याकुलता भी। 'हंस-मयूर' में इस शैली का स्वस्थ और सुन्दर प्रयोग हुआ है। पात्रों के भावुक हृदय की सारी सरसता इस शैली का प्राण बन गयी है और उसमें दर्शक और पाठक तन्मय हो जाता है। वर्माजी की यह शैली अपने प्रसाद और माधुर्य गुणों के कारण अत्यन्त सफल है। वीर रस के चित्रण में ओजपूर्ण शैली भी हृदय को उत्साह से भर देती है।

(२) आलंकारिक शैली—प्रकृति-चित्रण में इस शैली का प्रयोग किया गया है। इससे नाटकीय वातावरण का निर्माण करने में वर्माजी को विशेष सहायता मिली है। वर्माजी इस कला में दक्ष हैं। वह वातावरण का चित्रण बड़े कौशल से करते हैं और उसका संश्लिष्ट चित्र उतारते हैं। इसी प्रकार उनके मानवीय व्यापारों और आकृतियों के चित्र भी प्रभावोत्पादक होते हैं। ऐसे चित्रों को उतारते समय वह उपमा और उत्प्रेक्षा का सहारा लेकर उन्हें स्पष्ट कर देते हैं।

(३) **व्यंगात्मक शैली**—हास-परिहास के अवसरों पर व्यंगात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। 'बीरबल' में इस शैली को विशेष रूप से स्थान मिला है। इसमें हास्य के साथ-साथ व्यङ्ग भी रहता है। वाग्वैदग्ध इसकी विशेषता है। वर्माजी का हास्य अट्टहास्य नहीं है। इसी प्रकार उनके व्यंगों में भी विशेष कचोट नहीं है। हास्य और व्यंग की साधारण परिस्थितियों का ही वह चित्रण करते हैं। इस प्रकार के चित्रण में उनकी शब्द-योजना और वाक्य-योजना सरस और हृदय को गुद-गुदानेवाली होती है।

(४) **वर्णनात्मक शैली**—घटना-प्रधान प्रसंगों के चित्रण में इसी शैली का प्रयोग हुआ है। इस शैली में साहित्यिकता अवश्य है, कवित्व अथवा नाटकीय छटा इसमें नहीं है। ऐसा लगता है कि दो शिक्षित पात्र आपस में कहीं बातें कर रहे हैं। 'इसलिए यह शैली स्वाभाविक तो है, पर सरस और रंगमंच के उपयुक्त नहीं है। यह शैली उपन्यास में अच्छी लगती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटकीय संवादों में भाषा का जैसा कलात्मक रूप होना चाहिए वैसा वर्माजी के नाटकीय संवादों में नहीं है। उन्होंने अधिकांश अपने उपन्यासों की भाषा-शैली को अपने नाटकों में स्थान दिया है। इससे उन्हें कहीं सफलता मिली है और कहीं नहीं भी मिली है। नाटक में सर्वत्र व्यावहारिक भाषा को स्थान देना कला की दृष्टि से उचित नहीं जान पड़ता।

——



: ४ :

सेठ गोविन्ददास

जन्म सं० १६५३

सेठ गोविन्ददास कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं, चोटी के साहित्यकार भी हैं। उनके व्यक्तित्व में इन दोनों रूपों की बड़ी सफल प्रतिष्ठा हुई है।

सेठजी का महत्त्व

उनके देश-प्रेम ने साहित्य प्रेम को और साहित्य-प्रेम ने देश-प्रेम को प्रेरणा दी है। बचपन से ही साहित्य के प्रति उनका विशेष अनुराग है। उपन्यास-रचना से उनके साहित्यिक जीवन का प्रादुर्भाव होता है। इसके बाद उन्होंने कविताएँ भी कीं और नाटक भी लिखे। नाटक-रचना में उन्हें विशेष सफलता मिली। इसलिए उपन्यास और कविता के क्षेत्रों को छोड़ कर उन्होंने इसी ओर ध्यान दिया। हिन्दी और हिन्दी के द्वारा बँगला तथा अँगरेजी-नाटकों का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया। सं० १६७४ में उन्होंने 'विश्व-प्रेम' नाटक लिखा जो शारदा-भवन पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सफलतापूर्वक खेला भी गया। इससे हिन्दी-जगत में उन्हें विशेष सम्मान मिला। पं० माधवराव सप्रे तथा पं० विष्णुदत्त शुक्ल से उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रोत्साहन